



# सर्वद्विषी जगत



# सर्वोदयी जैन तंत्र

# सर्वोदयी जैन तंत्र

डॉ. नन्द लाल जैन

प्रकाशक

पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक न्यास  
पोतदार निवास, टीकमगढ़ (म०प्र०)

- सर्वोदयी जैन तत्र  
डॉ. नन्द लाल जैन
- प्रथम संस्करण  
1000 प्रतियाँ / 1997
- प्रकाशक  
श्री कपूरचन्द जैन पोतदार  
अध्यक्ष  
पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक न्यास  
पोतदार निवास, टीकमगढ़, (म०प्र०)
- व्यवस्था राशि  
25/- रुपया
- प्राप्ति स्थान  
श्री कपूरचन्द जैन पोतदार  
पोतदार निवास, टीकमगढ़, (म०प्र०)  
फोन-32394 S.T.D 07683
- कम्पोजिंग  
लेखा कंप्यूटर्स  
मानसरोवर पार्क, दिल्ली-32, फोन - 2132247
- मुद्रक  
शुभम् ऑफसेट,  
मानसरोवर पार्क, दिल्ली-110032

## सर्वोदयी जैन तंत्र

सर्वोदयी जैन तंत्र – नाम की इस कृति को मैंने आद्योपात्त पढ़ा है। इसमें जैन तंत्र के सभी आधारभूत विषयों को छुआ है। पुस्तक पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह जैन धर्म में प्रवेश पाने वाले नये व्यक्ति के लिये या जिन्होंने जैन धर्म को अभी तक जाना ही नहीं है, उनके लिये बहुत उपयोगी है। जैन सिद्धान्त क्या है ? इसमें किस विषय को लेकर चर्चा है ? सुख-दुख की क्या परिभाषा है ? इसके मुख्य सिद्धान्त क्या है ? इन तमाम विषयों को लेकर यह पुस्तक लिखी गई है। हा, इतना अवश्य है कि कुछ शब्दों को बदल कर अंग्रेजी भाषा में प्रचलित शब्दों को लिखा गया है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह जैनतरो को भी जैन दर्शन का बोध कराने के उद्देश्य से लिखी गई है और इसमें लेखक सफल भी हुआ है। जैन दर्शन के समस्त अंग—जैसे सात तत्त्व, सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र, चार गतिथा, चार कषाय, आठ कर्म चौदह गुण स्थान आदि के समस्त सूत्र इसमें यथास्थान लिखे गये हैं। लेखक ने काफी प्रयत्न किया—उन्हे एक जगह एक माला में गूथने का। अतः लेखक धन्यवाद का पात्र तो है ही और मैं उनके इस कार्य की सराहना करता हुआ भविष्य में भी उनसे ऐसी आशा करता हूँ कि वे आगे बढ़ते रहे।

कमल कुमार शास्त्री

## सर्वोदयी जैन तंत्र (अंग्रेजी संस्करण) पर कुछ सम्मतियां

इस सारगर्भित पुस्तिका में जैन धर्म से संबंधित प्रायः सभी आवश्यक विषयों का सरल भाषा में प्रभावी ढंग से वर्णन किया गया है। लेखक ने इसमें जैन तंत्र को एकीकृत रूप में प्रस्तुत कर उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य दिया है। यह पुस्तिका संक्षिप्त है, पर जैन विद्यार्थियों के प्राथमिक अध्ययन के लिये, जो उसे जानना चाहिये, उसके लिये अद्वितीय है। यह विदेशी पाठकों के लिये उत्तम है।

**दशरथ जैन, छतरपुर**

मैं आशा करता हूँ कि जैन इतिहास, सिद्धांत और आचार से संबंधित यह सारगर्भित पुस्तिका नई पीढ़ी का ध्यान आकर्षित करेगी। जैन तंत्र के परंपरागत सिद्धांतों को सामयिक भाषा में प्रस्तुत कर आपने एक बड़ी चुनौती का सामना किया है। मैं प्रत्येक बुद्धजीवी को इसे पढ़ने की तीव्र अनुशंसा करता हूँ।

**प्रो० डेविड एम० ब्रुकमैन, हॉटन (मिशिगन), अमेरिका**

आपकी पुस्तक बहुत अच्छी है और यह मेरे छात्रों के लिये अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रही है।

**प्रो० नोएल एच. किंग, लास एंजिलस, अमेरिका**

“जैन तंत्र : संक्षेप में,” में प्रस्तुत सामग्री मुझे जैन धर्म को समझने में बड़ी सहायक हुई है।

**प्रो० क्रान्वेल क्राफोर्ड, हवाई वि०वि०, अमेरिका**

आपकी पुस्तक अनमोल है। आपने मेरी पुस्तक का विवरण देकर इसके विवरण को और भी अधिक वैज्ञानिकता दी है। इसका सर्वत्र प्रचार

हो, यही कामना है।

**प्रो० के० व्ही० मरडिया, लीड्स वि०वि०, ब्रिटेन**

“जैन तत्रः सक्षेप मे” मे आपने जैन तंत्र के प्रायः सभी पक्षों को स्पष्ट रूप से तथा वैज्ञानिक रूप से देने का प्रयास किया है। इस सफल प्रयास के लिये बधाई।

**गणेश ललवानी, कलकत्ता**

आपकी इस पुस्तक से देश-विदेश के अंग्रेजी पाठकों को लाभ होगा। इसमें जैन परंपरा की सक्षिप्त एवं प्रामाणिक जानकारी दी गयी है। ऐसी उपयोगी और सारगर्भित पुस्तक के लिये बधाई।

**डॉ० प्रेम सुमन जैन, उदयपुर**

पुस्तक पढ़ी, अच्छी है। कुछेक जगह पर जैन मान्यताओं को गणितीय रूप देने का प्रयत्न बहुत अच्छा है।

**मुनि नंदिघोष विजय, अहमदाबाद**

‘सर्वोदयी जैन तत्र’ नामक हिंदी पुस्तक में आपने जैन सिद्धान्त, इतिहास, आचार संहिता आदि सभी विषयों की अत्यन्त उपयोगी सामग्री इतने सक्षेप में देकर, आम आदमी पर बड़ा उपकार किया है। इतनी सरल भाषा और सुबोध शैली में वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हुए लिखी गई यह पुस्तक, निश्चय ही एक स्तुत्य प्रयास है। देश-विदेश का शिक्षित वर्ग इस पुस्तक से अवश्य लाभान्वित होगा। इस सद्-प्रयास हेतु अनेकानेक साधुवाद।

**डॉ. प्रकाश चन्द्र जैन**

कुद-कुद शोध संस्थान, इन्दौर



## अनुक्रमणिका

मंगल आशीर्वाद	प०पू० एलाचार्य 108 नेमीसागर जी महाराज	ix
प्रस्तावना	दशरथ जैन, पूर्व मंत्री म० प्र० शासन	xi
प्रकाशकीय	कपूरचन्द्र पोतदार, अध्यक्ष पोतदार ट्रस्ट	xiii
आमुख	डॉ. नन्दलाल जैन	xvi
1. धर्म का विकास और जैन तंत्र की विशेषताएँ		19
2. जैन तंत्र के सिद्धान्त		21
3. जैन तंत्र की वैज्ञानिकता		30-44
(अ) वैज्ञानिक दृष्टि का पल्लवन		31
(ब) अनेकान्तवाद		32
(स) जैन तर्कशास्त्र		35
(द) सैद्धान्तिक अवधारणायें और भौतिक जगत की घटनाएँ		37
(इ) आध्यात्मिक या नैतिक विकास का विज्ञान		40
(फ) कर्मवाद का विज्ञान		43
4. जैन तंत्र का इतिहास		45-57
(अ) राजकीय संरक्षण		45
(ब) साहित्यिक इतिहास		49
(स) सामाजिक इतिहास		53
5. जैन तंत्र के भेद		58
6. जैन आगम साहित्य		60
7. जैन कला और स्थापत्य		62
8. धार्मिक यात्रा हेतु पवित्र स्थल : तीर्थ क्षेत्र		65
9. जैनों के कर्मकाण्ड : विधि-विधान और पर्व		67
10. जैन सिद्धान्तों का प्रभावी सम्प्रेषण		69
11. विदेशों में जैन धर्म		75

12. जैन तत्र की प्रभावकता का संवर्धन	79
13. सम-सामयिक समस्याएँ और जैन धर्म	81-93
(अ) जाति, कुल और धर्म	82
(ब) महिलाएँ और जैन तंत्र संवर्धन में उनका योगदान	83
(स) युद्ध और राजनीति	87
(द) सामाजिक विषमता और जैन समाजवाद	88
(य) पर्यावरण संरक्षण	90
14. परीक्षा की घड़ी . सर्वोदयी जैन तत्र	94

### परिशिष्ट

1. सन्दर्भ सामग्री	96
2. सारणी-2 जैन तत्र के मौलिक सिद्धान्तों का विवरण	99

## मंगल आशीर्वाद

हम इक्कीसवीं सदी के द्वार पर हैं। यह विज्ञान और तकनीकी की सदी होगी। इस सदी में अपने अस्तित्व को प्रभावी और विस्तारशील बनाये रखने के लिये हमें अपने पुरातन नैतिक और धार्मिक ज्ञान को भी वैज्ञानिक रूप से वैज्ञानिक भाषा में प्रस्तुत करने का अभ्यास करना होगा।

जैन धर्म गुण-विशेषित धार्मिक तंत्र है। इसमें वैज्ञानिक दृष्टि है। इसमें वैज्ञानिकता के सभी तत्त्व हैं। इसके इतिहास, दर्शन और धार्मिक मान्यताओं ने विश्व के विद्वत् जगत् को पर्याप्त प्रभावित किया है। पर उसकी प्रस्तुति परम्परावादी होने से इसे वह लोकप्रियता एवं विश्वजनीनता नहीं मिल सकी है जो इसे मिलनी चाहिए थी। इन दिनों जैन तंत्र से सम्बन्धित सभी स्तर का परम्परागत साहित्य पर्याप्त मात्रा में साधुजनों के माध्यम से, उनके आशीर्वाद से एव स्वतंत्र रूप से सामने आ रहा है। उसमें अतीत का पुट अधिक रहता है, वर्तमान और भविष्य प्रायः उपेक्षणीय जैसा ही रहता है। फलतः उसकी प्रभावकता का क्षेत्र सीमित होता है।

इस प्रभाविता के संवर्धन में लेखन की वैज्ञानिक पद्धतियों का स्वांगीकरण आवश्यक है। इसीलिए आधुनिक लेखन में सैद्धान्तिक चर्चाओं की सुस्पष्टता के लिए श्रव्य एवं पाठ्य सामग्री के अतिरिक्त दृश्य सामग्री भी अनिवार्य मानी जाती है। उसे वैज्ञानिक एवं गणितीय सूत्रों के रूप में प्रस्तुत करना भी इसमें नवीनता लाता है। ऐसी सामग्री हमें इक्कीसवीं सदी में जाने का सामर्थ्य देगी।

'सर्वोदयी जैनतंत्र' के लेखक ने इस दिशा में प्रयत्न किया है। उन्होंने धर्म के सूत्र को गणित के सूत्रों में परिणत किया है। रेखा चित्रों द्वारा आध्यात्मिक विकास के पथ की सरलता एवं जटिलता बताई है और दस परम्परागत दृश्य चित्रों द्वारा जैन तंत्र के मौलिक सिद्धान्त समझाये हैं। उन्होंने जैन इतिहास को राजनीतिक, साहित्यिक एवं सामाजिक रूप में प्रस्तुत कर नवीन रचनाकारों को एक दिशा दी है। संक्षेप में, उन्होंने जैन जगत् के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत किया

है जो प्रायः विरल ही पाया जाता है। अनक व्रतमान समस्याओ के समाधान में जैन मान्यताओ की सार्थक भूमिका को प्रस्तुत कर इसके जन मगलकारी सर्वोदयी एवं वैज्ञानिक रूप को प्रस्तुत किया है। फलतः उनकी यह लघु कृति प्रचलित लेखन परम्परा के विपर्यास में जैन तत्र को इक्कीसवीं सदी के प्रभावशील विश्वतंत्र के रूप में प्रस्तुत करती है।

इस विषय पर उन्होंने अंग्रेजी में 'जैन सिस्टम इन नटशैल' (1993) लिखी थी। पाठकों के द्वारा दिये गये सुझावों के आधार पर उन्होंने इसे परिवर्धित कर हिन्दी में एक प्रकार से पुनर्लिखित किया है। मैंने सरसरी तौर पर इसे पढ़ा है और इसमें मुझे रस मिला है। मैं चाहता हूँ कि इसे सभी लोग पढ़ें और अपने चिन्तन को समयानुकूल रूप में ढाल कर धार्मिकता के उन्नयन की ओर बढ़ें। मैं इस पुस्तक के लेखक डॉ० नन्द लाल जैन और प्रकाशक पोतदार ट्रस्ट, टीकमगढ़ को अपना आशीर्वाद देता हूँ। वे सदैव धर्म की सेवा करते रहे और जैन धर्म को विश्व धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने में अपना योगदान करते रहे।

मगल आशीर्वाद

रीवा, 5 अप्रैल, 1997

(श्री 108) एलाचार्य नेमीसागर

## प्रस्तावना

‘सर्वोदयी जैन तंत्र’ लेखक की अंग्रेजी पुस्तिका ‘जैन सिस्टम इन नटशैल’ (1993) का परिवर्धित हिन्दी अनुवाद है। यह अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। यह जैन तंत्र का सर्वांगीण सार-संग्रह है। इसमें सरल और सुबोध भाषा में प्रमुख जैन सिद्धान्त, जैन तंत्र की वैज्ञानिकता तथा उसके द्वारा वैज्ञानिक दृष्टि का पल्लवन, कर्मवाद, अनेकान्तवाद, जैन तर्कशास्त्र, अवधारणात्मक एवं भौतिक घटनाओं की व्याख्या, परमाणुवाद, ऊर्जाएं और उनका रूपान्तरण, आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास का विज्ञान और आचार संहिता, जैनो के राज्याश्रय, साहित्य एवं समाज का इतिहास, जैन साहित्य, पुरातत्व, तीर्थक्षेत्र, विधि-विधान और उत्सव, जैन सिद्धान्तों का चित्रों द्वारा प्रभावी संप्रेषण, विदेशों में जैन धर्म, जैन धर्म की प्रभावकता का संप्रेषण तथा वर्तमान राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में जैन सिद्धान्तों का योगदान के समान अनेक शीर्षकों के अन्तर्गत जैन तंत्र के विकासकाल से लेकर बीसवीं सदी तक की महत्वपूर्ण सूचनाएँ विश्लेषणात्मक एवं विधायक दृष्टि से दी गई हैं। यह स्पष्ट है कि इस पुस्तक का विषय क्षेत्र व्यापक है और देश-विदेश के अनुभवंतों का लाभ लेकर लेखक ने प्रत्येक विषय पर प्रभावी, आधुनिक एवं नवीन ढंग से प्रकाश डाला है। इसमें भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों की विवेचना अद्भुत एवं वैज्ञानिक विधि से, गणितीय सूत्रों एवं समीकरणों की भाषा के प्रयोग से की गई है। इससे नयी पीढ़ी उसे सरलता से हृदयगम कर सकेगी एवं नैतिक उत्थान के प्रति अविरत रूप से जागरूक बनेगी। इसमें दिये गये सारणियों, रेखाचित्रों एवं चित्रों ने वर्णन को रोचकता तथा आकर्षण प्रदान किया है। यह लेखक का अनूठा प्रयास है।

इस पुस्तक की एक विशेषता और है कि इसमें जैन तंत्र का समग्र चित्र निष्पक्ष एवं तुलनात्मक दृष्टि से दिया है। इससे यह समग्र जैन तंत्र का रूप प्रस्तुत करती है। पुस्तक के अंत में दी गई सन्दर्भ सामग्री

जिज्ञासुओं के लिए पर्याप्त ज्ञानवर्धक है। यह बहुत कम पुस्तकों में पाई जाती है।

यह पुस्तक उपदेश प्रधान नहीं है, बुद्धिपूर्वक श्रद्धा को जन्म देकर हितकारी एवं सर्वोदयी आचरण और चितन की ओर प्रेरित करना इसका लक्ष्य है। यही इसकी विशेषता भी है और नये युग की आवश्यकता भी।

यह पुस्तक लघुकाय है, पर इसमें वे सभी सूचनाएँ हैं जो जैन विद्या के प्राथमिक जिज्ञासु के लिए आवश्यक हैं। इसका अंग्रेजी संस्करण विश्व के पाँचों महाद्वीपों में प्रसारित हुआ है। यह हिन्दी संस्करण भी लोकप्रिय बनेगा, यही शुभकामना है।

छतरपुर, म०प्र०

दशरथ जैन

पूर्व मंत्री, म० प्र० शासन

## प्रकाशकीय

हमारे लिए यह गौरव की बात है कि हम बिन्ध्य क्षेत्र के बुन्देल खण्ड प्रान्त में जन्मे और यहां की गरीब पर जीवन-दायी और संस्कार-युक्त संस्कृति व आबोहवा में पले हैं। यहां का जीवन श्रम-साध्य, नेक और धार्मिक संस्कारों से युक्त है। यहां एक ओर वैदिक संस्कृति के चित्रकूट धाम और खजुराहो जैसे कला केन्द्र हैं, वहीं दूसरी ओर यहां पपीरा जी, अहार जी, द्रोणगिरी, नैनागिर, कुण्डलपुर, देवगढ, चन्देरी, सीरोन जी आदि जैन संस्कृति के मनोरम केंद्र तथा कला के अपार भंडार स्थित हैं।

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज ने पिछले लगभग 15 वर्षों में यहां के जैन समाज में संस्कृति के गौरव और उसके रक्षण के प्रति जो जागृति पैदा की है, वह हमें परम-पूज्य वर्णी जी महाराज के उन दिनों की याद कराती है जब समाज में जैन संस्कृति, विद्या और ज्ञानोपार्जन के लिये साधनहीनता के बावजूद भी अनेक जैन संस्कृत विद्यालय व विद्वान् प्रदान किये। उसी परमपरा में आज आचार्य श्री ने पढ़े लिखे, ज्ञानवान व चरित्र से भरपूर युवा साधु माताये, मुनि, ब्रह्मचारी तथा धर्म संस्कृति के रक्षण के लिए एव मानव व प्राणी मात्र के लिए उपयोगी सार्वजनिक भाग्योदय तीर्थ एव सर्वोदय तीर्थ जैसे पवित्र संस्थान भी दिये हैं।

इसी सदर्थ में आचार्य श्री के दर्शन, भ्रमण और सामीप्य का सौभाग्यशाली अवसर मुझे मिला और समाज के धार्मिक, नैतिक व चारित्रिक मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए मेरे मन में एक ट्रस्ट स्थापित कर उसके द्वारा आचार्य श्री व उनके सुयोग्य शिष्यों, साधुओं के प्रवचन, लेख आदि का प्रकाशन कर जनसाधारण के उपयोग के लिए प्रकाशित करने का विचार आया और "पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक ट्रस्ट" की स्थापना की।

हमें प्रसन्नता है कि इस न्यास के प्रथम पुष्प के रूप में परमपूज्य आचार्य संमत भद्र स्वामी का श्रावकों के लिए आदर्श रत्नत्रय धर्म की

व्याख्या करने वाला शिरोमणि ग्रन्थ “रत्नकरण्डक श्रावकाचार” के मूलपाठ एव मुनिश्री 108 समता सागर जी द्वारा रचित उसके हिन्दी दोहानुवाद, अन्वयार्थ व भावार्थ प्रकाशन का अवसर प्राप्त हुआ। इस हेतु आचार्य श्री का आशीष एव मुनिश्री की कृपापूर्ण अनुज्ञा मिली।

जैन धर्म सम्पूर्णरूप से तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत वैज्ञानिक व सार्वभौमिक धर्म है। आज के युग की युवा पीढ़ी चहुंमुखी विकास के कारण केवल अन्ध श्रद्धा की कोई बात मानने को तैयार नहीं है। इसलिये मेरे मन में एक मार्गदर्शक, तथ्य व तर्क-पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन करने वाली लघु-पुस्तिका प्रकाशित करने का विचार आया ताकि युवावर्ग व जैनेतर मानव समाज भी जैन धर्म व उसकी वैज्ञानिक पद्धति पर अपनी जीवन-चर्या पालते हुए सुख, समृद्धि व शान्ति प्राप्त करे। हमारे न्यास के इस विचार को अनेक लोगो से प्रेरणा मिली।

इसी क्रम मे “सर्वोदयी जैन तत्र” के रूप मे डॉ० नन्दलाल जी की पुस्तक हमारे सामने आई। हमारे अनेक विद्वान मित्रो ने इसे पढ़ा और पुस्तक प्रकाशन की अनुशंसा की। भाई नन्दलाल जी से पिछले 50 वर्षों से हमारा सम्पर्क व स्नेह है और वह न केवल स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के स्नातक हैं और विज्ञान मे रसायन शास्त्र मे डाक्टरेट प्राप्त हैं। उन्होंने देश-विदेश मे—जैन धर्म और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी नही वरन् पूरक है—इस तथ्य को प्रचारित-प्रसारित करने मे महत्वपूर्ण योगदान किया है। जैन धर्म के सभी वर्गों के विद्वानो और साधुओ से उनकी चर्चा व सम्पर्क होता रहता है और वह उनसे ज्ञान व आशीष भी प्राप्त करते हैं।

हमे उन्होने इस पुस्तक के प्रकाशन की स्वीकृति दी, इसके लिए हम उनके आभारी है। हम ऐलाचार्य नेमी सागर जी महाराज के आशीर्वाद, भाई दशरथजी तथा डॉ० प्रकाश चन्द जी, प० कमल कुमार जी शास्त्री के भी आभारी हैं, जिन्होने इसके लिए मंगल कामनाएं प्रदान की हैं। हम विशेषरूप से अपने अनुजवत् मित्र भाई नेमचन्द्र जी “शील” दिल्ली के लिए आभार प्रगट करते हैं जिन्होने अस्वस्थ होते हुए भी इसके प्रकाशन मे सहयोग दिया है। स्वयं “शील” जी की कई पुस्तके जीवन में प्रेरणा देने वाली प्रकाशित हो चुकी है और उन्होंने कामना की है कि यह पुस्तक जनो पयोगी होगी।

अंत मे, मे अपने ट्रस्ट के सभी साथियो, सहयोगियो की ओर से



आचार्य श्री 108 विद्या सागर जी महाराज व संघस्थ साधु श्री समता सागर जी, श्री क्षमासागर जी, श्री सुधासागर जी, श्री प्रमाणसागर जी महाराज व समस्त माताओं, साधुओं के चरणों में शत-शत नमन करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि हमें इस तरह के कार्यों में उनका आशीर्ष एवं मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे।

आशा है, यह पुस्तक जैन समाज के अतिरिक्त सभी वर्ग के बंधुओं के लिए भी उपयोगी होगी। हम सुधी पाठकों एवं विद्वानों से यह आशा करते हैं कि वे हमें ऐसे कार्यों में सहयोग व मार्गदर्शन निरन्तर देते रहें।

विनीत

कपूरचन्द जैन पोतदार

अध्यक्ष, पोतदार धार्मिक एवं

पारमार्थिक ट्रस्ट

पोतदार निवास, टीकमगढ़ (म० प्र०)

PH. : 07683/32394, 33186.

## आमुख

यह विज्ञान और तकनीकी विकास का युग है। इसके कारण मानव को बौद्धिक खुलापन मिला है। तर्कबुद्धि और प्रयोगकला में निपुणता प्राप्त हुई है। इसके साथ ही, मानव में यह विश्वास भी जागा है कि उसमें भौतिक और आध्यात्मिक विकास की अनंत संभावनाएँ प्रमुख रूप में विद्यमान हैं। अनीश्वरवादी तंत्र इस प्रकार की मनोवृत्तियों को प्रोत्साहित करते हैं। यह सौभाग्य की बात है कि इस प्रवृत्ति को विकसित करने में जैनतंत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। माइकेल टोबायास ने कहा है कि जैनतंत्र के अध्ययन करते समय ही व्यक्ति में जैनत्व आने लगता है और उसमें एक नयी आंतरिक जीवनशक्ति का अनुभव होता है।

जैन तंत्र प्रत्येक प्राणी को अनेक प्रकार के विरोधों से विदलित इस विश्व में एक ईमानदारी पूर्ण एकता की प्रतीति की ओर निर्देशित करता है। यह जीव-वैज्ञानिक नीति शास्त्र का दर्शन है। यह आध्यात्मिक पर्यावरण के निर्माण का दर्शन है। यह अहिंसक वनस्पति विज्ञान और आध्यात्मिक प्राणिशास्त्रीय तंत्र है। यह तंत्र इस बात का प्रशिक्षण देता है कि ईर्ष्या एवं द्वेष के दो क्षण जहाँ ससार में प्रलय ला सकते हैं, वहीं दो क्षणों का आत्मनिरीक्षण ससार को बचा भी सकता है। इसीलिए आचार्य समतभद्र ने इसे 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है।

जैन तंत्र में मनोविज्ञान के मौलिक तत्व हैं। यह मानव के व्यवहारों का मनोविश्लेषण करता है और मनोभावों तथा मूर्छासिक्त अर्जनवृत्तियों को सीमित करने का नैतिक एवं अहिंसक विश्लेषण कर मानवहित के मार्ग सुझाता है। जैन तंत्र एक प्रभावी प्रकृति-विज्ञानी है जहाँ यह अहिंसक वनस्पति विज्ञान, प्राणिविज्ञान एवं पर्यावरणिकी के विवरण प्रस्तुत कर समुचित दिशा निर्देश देता है। इस तंत्र में अनेक त्रिक हैं जो मानव की भौतिक, वाचनिक और कायिक वृत्तियों के निरूपक हैं। ये त्रिक इसकी वैज्ञानिकता एवं विश्वजनीनता को समर्थन देते हैं। यद्यपि यह संभव नहीं

हो सका है कि संसार में हिंसा और युद्धों की शृंखला समाप्त हो जाय, फिर भी अनेक लेखक जैनधर्म की उस सुगंध का अनुभव करते हैं जहाँ यह इन समस्याओं के समाधान का परागण करता है। जैनों की मान्यता है कि विज्ञान और धर्म एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। लेखक की दृष्टि में यह विश्व का सर्वाधिक वैज्ञानिक धर्म है जो दृष्ट, श्रुत, अनुभूत एवं सुधार की वृत्ति का प्रारंभ से ही प्रेरक है।

यह माना जाता है कि पश्चिम में अहिंसा की विचारधारा सदैव अल्पमत में रही है। इसके विपर्यास में, यह प्रायः सभी पूर्वी तंत्रों की बहुमती विचारधारा रही है। जैन तंत्र इस दृष्टि से पूर्ण अहिंसावादी रहा है। इस हिंसापूर्ण जगत में जैनतंत्र स्थायी निश्चेतक का काम करता है। जैनो की घोषणा है कि संसार के सभी प्राणी-एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक धार्मिक दृष्टि से बराबर हैं एवं विकास की समान क्षमतायें रखते हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि अहिंसक व्यवसाय भी प्रतिस्पर्धात्मकतः लाभकारी हो सकते हैं। वे यह भी मानते हैं कि संसार की वर्धमान प्रगति के लिये, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक हो, सापेक्षवादी विचारणा की प्रवृत्ति ही लाभकारी होती है। यद्यपि यह सत्य है कि अनेक सिद्धान्तों एवं उनके प्रायोगिक रूपों में वैषम्य भी पाया जाता है, फिर भी वैज्ञानिक जैन तंत्र यह मानता है कि हिंसा का अल्पीकरण ही हमारे सिद्धान्तों का मूल है। वैज्ञानिक नियमों के अनुप्रयोगों में भी प्रकृस्या दृश्य वैषम्य के कारण ही अनेक नियमों के आदर्श एवं व्यावहारिक रूप विकसित किये जाते हैं।

जैनतंत्र की ओर पश्चिम जगत का ध्यान बहुत देर से—लगभग उन्नीसवीं सदी में आकृष्ट हुआ। लेकिन यह प्रसन्नता की बात है कि समय के साथ इस ओर उनका ध्यान और अनुसंधान निरन्तर बढ़ता जा रहा है। धार्मिकता के क्षरण के इस युग में जैनतंत्र नई पीढ़ी के लिये पर्याप्त मार्गदर्शन देता है। इस तंत्र को सामान्य एवं वैज्ञानिक रूप से समझने के लिये बहुत कम पुस्तकें या पुस्तिकाएँ देखने में आई हैं। यह पुस्तिका इस दिशा में एक लघुतम विनम्र प्रयत्न है। मुझे आशा है कि नई पीढ़ी एवं अन्य पाठक वर्ग इस प्रयास को प्रोत्साहन देगा और अपनी धार्मिकता को प्रबल बनायेगा।

यह पुस्तिका निज-ज्ञान-सागर शिक्षा कोष, सतना के प्रोत्साहन पर मूलतः अंग्रेजी में लिखी गई थी। इसका मूल नाम "जैन सिस्टम इन

नटशैल" (जैनतंत्र : सक्षेप में) था। "धर्म" शब्द के प्रति अरुचि की प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः मैंने इसे 'तंत्र' शब्द के माध्यम से प्रस्तुत किया है। आध्यात्मिक एवं भौतिक दृष्टि से, सर्वप्राणिहित-सर्वधनी सर्वोदयी आचार-विचार पद्धति ही श्रेष्ठ तंत्र मानी जाती है। जैन तंत्र एक ऐसी ही पद्धति है। इसके अंग्रेजी संस्करण का देश एवं विदेश के विद्वत्-वर्ग एवं सुधी जनों ने स्वागत किया है। इसके हिन्दी संस्करण का सुझाव अनेक दिशाओं से आता रहा है। मुझे प्रसन्नता है कि अब यह आपके समक्ष किञ्चित् परिवर्धित रूप में "सर्वोदयी जैनतंत्र" के नाम से सामने आ रहा है। मेरा विश्वास है कि इसका सर्वत्र स्वागत होगा। इस संस्करण में भी यह ध्यान रखा गया है कि पुस्तिका के सुगम और सहज पाठन के लिये इसकी भाषा में पारिभाषिक शब्द न्यूनतम रहें और विवरण जटिल न हो जाये। फिर भी, इसके सर्वधन एवं अपूर्णताओं के सम्बन्ध में पाठकों के सुझावों का सदैव स्वागत होगा।

पोतदार ट्रस्ट, टीकमगढ़ ने 'सर्वोदयी जैन तंत्र' का प्रकाशन करके इसे देश विदेश के शिक्षित वर्ग एवं आम को सुलभ कराया है। इससे भारतीय संस्कृति व साहित्य के साथ ही जैन साहित्य भी पल्लवित होगा। इस श्रेष्ठ कार्य के लिये मैं ट्रस्ट के अध्यक्ष भाई कपूर चंद जी पोतदार एवं पोतदार ट्रस्ट के प्रति आभारी हूँ।

**नंदलाल जैन**

## धर्म का विकास और जैन तंत्र की विशेषतायें

आधुनिक विचारकों की दृष्टि में "धर्म" शब्द का अर्थ मानव का नैतिकत. समाजीकरण है। इसका दूसरा अर्थ व्यक्ति का इस रूप में विकास भी है जो सर्वोदय का प्रेरक हो, जो सभी को उच्चतम सुखमयता के लिए मार्ग प्रशस्त करे। वस्तुतः सच्चा धर्म तो मानव धर्म ही है जो "जियो और जीने दो" तथा "जियो और जीने में सहायक" हो। इस प्रकार, यद्यपि धर्म विश्वजनीन होता है, फिर भी, विश्व के इतिहास के अनेक युगों में और अनेक क्षेत्रों में अनेक धर्म-तन्त्रों का उदय हुआ है जो व्यक्ति और समाज के सुखमय जीवन के निर्माण में निर्देशक हुये हैं। इनमें प्रत्येक ने स्वयं को मानवता का सर्वोत्तम हितकारी माना है। लेकिन भाषा, संचार और अन्य बाधाओं के कारण वे विश्व भर में सुज्ञात न हो सके। अमरीकी लेखक एलबुड का यह विचार बहुसम्मत है कि प्रत्येक धर्म तंत्र विश्वधर्म या मौलिक मानव धर्म का केवल अंशतः परिवर्तित रूप ही है जिसके विभिन्न नाम हैं। ये सभी धर्म तंत्र मानव की सुखमयता के सम्बर्धन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के अनेक प्रकार हैं। इस आधार पर, जब हम जैन तंत्र के विषय में चर्चा करते हैं, तो हम पाते हैं कि यह मानवतावाद के विकास की ऐसी पद्धति है जिसमें अन्य धर्मों के समान विशिष्ट एवं निश्चित आदर्श एवं व्यवहारों का समुच्चय है। विद्वानों का विचार है कि जैन तंत्र सभी युग के स्वतंत्र चेता, बुद्धिवादी एवं तर्क-प्रवीण व्यक्तियों के लिए सर्वोत्तम आदर्श और व्यवहार प्रस्तुत करता है। यह न तो ईश्वरीय तंत्र है और न ही यह दैवी तंत्र है। इसमें न तो सृष्टिकर्ता ईश्वर को कोई स्थान है और न ही पोप के समान अधिकार प्राप्त संप्रभुता ही है। यह उत्तार-वादियों का तंत्र है, यह अवतार तंत्र नहीं जिनका चरित्र केवल अनुकरणीय की अपेक्षा श्रवणीय अधिक होता है। इस तंत्र की विशेषताओं में (1) भौतिक एवं मनोभावात्मक अहिंसावाद, (2) कर्मवाद, (3) बहुवास्तविकतावाद, (4) महिलाओं

के लिए समान एवं आदरणीय उदारवाद, (5) कर्म-आधारित समाज या वर्ग व्यवस्था और (6) मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवाद प्रमुख हैं। इसमें विश्वधर्म होने की क्षमता है क्योंकि (1) इसके अपने आगम ग्रन्थ हैं। (2) इसके प्रसारक आदरपात्र तीर्थंकरों के समान शलाकापुरुष हैं और (3) इसमें मानव तो क्या, सभी प्राणियों के हित के लिए व्यवहारिक या सर्वोदयी निर्देश हैं। इसके मूलभूत सिद्धान्त नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के आधारभूत हैं।

विश्व के अनेक विद्वानों को इस पर आश्चर्य है कि ऐसा सर्वतोमद् एवं प्राचीन तंत्र अनुसंधान-प्रवीण पश्चिम को इतने दिनों तक अज्ञात क्यों बना रहा ? यह तो सौ वर्ष में कार्यरत लगभग तीन दर्जन से अधिक पश्चिमी विद्वानों के अविरत प्रयत्नों का सुफल है जिनके कारण विश्व इस वैज्ञानिकतः प्रेरक एवं अचरजकारी तंत्र की ओर आकृष्ट हुआ है। विश्व के विचारक इस तंत्र को नैतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, तत्त्व एवं प्रमाण-विद्या तथा बुद्धिवाद के आधार पर सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।

समय अब बदल गया है। अब जैनतंत्र का इतिहास भगवान् ऋषभदेव से प्रारम्भ होता है। वे पूर्व-वैदिक एवं सभ्यतः सिंधुघाटी सभ्यता के आचार्य थे। आधुनिक विद्वान अब यह मानने लगे हैं कि जैनतंत्र भारतमूलक आर्यपूर्व एवं प्रागैतिहासिक तंत्र है जो सभ्यतः वर्तमान में भी दीर्घजीविता प्राप्त श्रमणधारा के अन्तर्गत ईसा पूर्व तीसरी-चौथी सहस्राब्दि में पुनः स्थापित हुआ होगा। इस धारा में दिगम्बरत्व की पूजा, यौगिक आसन, चक्रीय अनादि-अनंत समय की धारणा एवं सर्वजीववाद के सिद्धान्त माने जाते रहे हैं। सिंधुघाटी के उत्खनन से प्राप्त अनेक प्रकार के अवशेष उस युग में इन धारणाओं के अस्तित्व के साक्ष्य देते हैं। इस प्रकार, जैनतंत्र, ससार का एक प्राचीनतम, अनीश्वरवादी, अहिंसक, समग्रतावादी, और अनेकात्मवादी सिद्धान्तों का तंत्र है। वर्तमान युग में केवल यहूदीतंत्र उसके समकालीन बैठता है जिसका इतिहास प्रायः 3700 वर्ष ईसा पूर्व का माना जाता है। उत्तरकाल में वाराणसी क्षेत्र के पार्श्वनाथ (877-777 ई० पूर्व) और मगध के महावीर (599-527 या 540-468 ई० पूर्व) ने इस तंत्र को अपने युगों में इस प्रकार व्यवस्थित किया कि यह आज भी अत्यन्त प्रभावी एवं जीवित धर्मतंत्र बना हुआ है।

इस तंत्र का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसे आध्यात्मिकतः उच्चतर स्तर पर ले जाना है जो सर्वोदयी समाज के निर्माण में सहायक हो। यह एक व्यक्ति

को सभी व्यक्तियों की ओर रूपायित करता है और उसे अपने घर को छोड़ विश्वनीड़ बनने को प्रेरित करता है। यह मानव में ईश्वरत्व को विकसित करता है। यह आत्मविश्वास, आत्म-अनुशासन, आत्म-पुनीतकरण एवं व्यावहारिक आशावाद का ऐसा दर्शन है जो मानव की सहज और अनन्त क्षमताओं को विकसित करता है। यह मानव के दृष्टिकोण को व्यापक बनाता है। इसके सिद्धान्त व्यक्ति एवं समाज के पुनर्निर्माण या नवनिर्माण में गतिशील आवेग उत्पन्न करते हैं, इससे विकृतियाँ दूर हो सकती हैं और एक सतत प्रवाहशील जीवंत विचार एवं कार्यपद्धति उत्पन्न होती है जो इसकी दीर्घजीविता का मुख्य घटक है। यद्यपि इस तंत्र के विभिन्न युगों में अनेक नाम (निर्ग्रन्थ, श्रमण, अर्हत् आदि) रहे हैं, फिर भी, इसका आधुनिक नाम "जैन" प्रायः पिछले बारह सौ वर्ष से लोकप्रिय है। इसके सिद्धान्त और व्यवहार रूपों में अविरतता बनी हुई है।

## 2. जैन तंत्र के सिद्धान्त

जैनतंत्र में धर्म को व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ-दो रूपों में परिभाषित किया गया है। यह जीवन की ऐसी पद्धति है जो प्राणिमात्र को उच्चतम आध्यात्मिक सुख की ओर ले जाती है। यह व्यक्ति में सुधार करती है और समाज को सुन्दरतर बनाती है। इस पद्धति का मार्ग सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् व्यवहार की त्रिवेणी से पार होता है। इसके सिद्धान्त बहु-वास्तविकतावादी कथनों से प्रारम्भ होते हैं :

1. यह चराचर विश्व अनादि-अनन्त है। यह सभी प्रकार के अस्तित्वों का समुदाय है। यह प्राकृतिक नियमों से संचालित होता है। इसके संचालन में कोई वाह्य या दैवी शक्ति काम नहीं करती। इसकी आवश्यकता भी नहीं है। इस प्रकार जैनतंत्र अनीश्वरवादी तंत्र है। इस विश्व के दो रूप हैं—भौतिक और आध्यात्मिक।

2. भौतिक दृष्टि से, विश्व में छह द्रव्य हैं। इसमें (1) जीव और (2) अजीव द्रव्य (3) आकाश में सहवर्ती रहते हैं और (4) उदासीन गति एवं (5) स्थिति माध्यमों में गतिशील एवं विराम अवस्था में रहते हैं। इस प्रकार, जैन तंत्र चतुर्विमीय जगत् की (6) समय सापेक्ष उद्घोषणा करता है। यहाँ द्रव्य शब्द का विशिष्ट अर्थ है। यह एक ऐसा अस्तित्व है जो गुण (सहवर्ती)

और पर्यायों (क्रमवर्ती) का आधार हो। यह गतिशील स्थायित्व का प्रतीक है। इस प्रकार, इस भौतिक विश्व में जीव, अजीव, आकाश, गति-माध्यम, स्थिति माध्यम एवं काल—ये छह द्रव्य पाये जाते हैं।

3. आध्यात्मिक दृष्टि से, सुख का मार्ग 9-11 तत्त्वों के परिज्ञान तथा अनुभूति के माध्यम से प्रशस्त होता है। इन तत्त्वों की सख्या उमास्वामी ने बाद में सात निश्चित की है

(1-2) जीव और अजीव तत्व एक-दूसरे से संयुक्त होकर भौतिक और भावात्मक क्रियाओं के माध्यम से कर्मों के (3) आश्रव तथा (4) बंध के माध्यम से जीव के सासारिक अस्तित्व में सहायक होते हैं। इस विश्व में जीव सदैव अजीव (कर्म, शरीर आदि) से प्रदूषित रहता है। लेकिन जीव में इस प्रदूषण को दूर कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व में आने की तीव्र लालसा रहती है।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य, दुख-निवृत्ति, (7) परमसुख या मोक्ष प्राप्त करना है। यह सुख तप एवं व्रतों के भौतिक एवं मानसिक (5) सवर के प्रकारों तथा (6) बंधे हुए कर्मों के निर्झरण या निर्जरा की बहुचरणी प्रक्रिया के अपनाने से प्राप्त होता है। वस्तुतः सुख, H, कर्मबंध की शिथिलता के अनुपात में होता है। उच्चतम या अनंत सुख तो मानव पुरुषार्थ का अंतिम चरण है जिसे धार्मिकता, R, कह सकते हैं। फलतः

$$H \propto R. \quad \dots \dots \dots (1)$$

(H = Happiness). (R = Religiosity)

और, ससार-दुख के कारण = आश्रव और बंध, और

ससार सुख के कारण = सवर और निर्जरा

4. जीवन में सुख की प्राप्ति उपरोक्त तत्त्वों और द्रव्यों के तर्कसंगत एवं सम्यक् विश्वास पूर्ण ज्ञान एवं प्रयोग से होती है। ये (3-4) ही दुखमय ससार के कारण हैं और इनके (5-6) के अनुसार आचरण इन दुखों को दूर करने के उपाय हैं। जैन तंत्र का यह समन्वित त्रिचरणी (भक्ति/श्रद्धा, ज्ञान/दर्शन और चारित्र्य) मार्ग है जो अन्य तंत्रों के एकल या द्विकल मार्ग की तुलना में अपनी विशिष्टता प्रकट करता है।

5. प्राणि-जगत में भौतिक एवं भावात्मक इच्छाये, महत्वाकांक्षाये, राग, द्वेष, घृणा, उपलब्धिया आदि की बहुलता है। इन्हे जैन तंत्र में कषाय, P (Passion) कहते हैं। ये अच्छी भी हो सकती हैं बुरी भी हो सकती हैं।



इनकी संख्या सीमित भी हो सकती है और असीमित भी हो सकती है। बुरी कषायें अवाछनीय होती हैं और दुःख और अतृप्ति को जन्म देती हैं।

यह विश्व विविध प्रकार की कषायों की क्रीड़ा स्थली है। इनके कारण सुख-दुःख होते हैं। फलतः यह विश्व सुख-दुःख का मिश्रण है। धर्मतंत्रों का लक्ष्य दुःखों का अल्पीकरण एवं शून्यकरण है और सुखों का बह्वीकरण या अनंतीकरण है। फलतः, धार्मिकता R कषायों के विलोम अनुपात में होती है। इस तथ्य को गणितीय रूप में प्रस्तुत करने पर

$$H \propto R \propto 1/p, \dots\dots\dots(2)$$

6. धर्म-तंत्रों ने संसार को चक्रीय भंवर माना है। इसमें कषायों, उपलब्धियों, मूर्च्छा आदि के केन्द्रमुखी बल इस प्रकार कार्य करते हैं जिनसे पुनर्जन्म की प्रक्रिया अविरत बनी रहे। इसके विपर्यास में, यहां व्रत, तप आदि के भौतिक और भावात्मक बल केन्द्रापसारी के रूप में काम करते हैं जिनसे उपरोक्त केन्द्रमुखी बलों का प्रभाव सतुलित हो जाये। यह स्पष्ट है कि जब तक केन्द्रापसारी बलों का मान केन्द्रमुखी बलों से अधिक नहीं हो जाता, उच्चतम सुखमयता या मुक्ति संभव नहीं होगी। अर्थात्, पूर्ण सुखमयता के लिये,

$$\text{विरागता आदि के केन्द्रापसारी बल} > \text{कषाय आदि के केन्द्रमुखी बल} \dots\dots\dots(3)$$

7. जब प्राणी कषाय-मुक्त हो जाता है, तब उसमें ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य की अनंत-चतुष्टयी प्रकट होती है। सामान्य अवस्था में, इन गुणों के पूर्णरूप से प्रकट न होने का कारण यह है कि प्राणी सदैव भौतिक क्रियाओं और मनोवैज्ञानिक भावों से संपृक्त रहता है। ये प्रक्रियाएँ परिवेश में विक्षोभ उत्पन्न करती हैं जहां चारों ओर अव-परमाणुक कार्मन-परमाणु व्याप्त रहते हैं। इन क्रियाओं के कारण संसारी जीव चुबक के समान हो जाता है और इन कार्मन-परमाणुओं को आकृष्ट करता है। इसके कारण जीव भारी या लघु कोटि के कर्मबंध करता है। इस कारण ही जीवों की विभिन्न कोटियाँ और गतियाँ होती हैं। जैनो का यह कर्मवाद गतिशील, आशावादी और उत्परिवर्तनशील है। यह अन्य तंत्रों के समान नियतिवादी नहीं है। इसमें पुरुषार्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। यह मनुष्य को भावात्मक शुद्धता की श्रेणी पर आरोहण और अवरोहण कराता है। यह वर्तमान आदतों के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्राचीन रूप है। यह कर्मवाद वर्तमान

मनोविज्ञान की अनेक शाखाओं का निदर्शक है जिसके अन्तर्गत ज्ञान, दर्शन, व्यक्तित्व, मनोभावों आदि का प्रयोग—विहीन युग में सुन्दर विवेचन हुआ है। यह शरीरतंत्र और शरीर क्रियाविज्ञान का भी निरूपक है। अब तो इसके रहस्यों को तंत्रिका-विज्ञान के माध्यम से भी समझाया जा सकता है।

8 : जैनतंत्र का मूल आधार सर्वजीववाद है। यह संसार की सभी वस्तुओं में मौलिक सजीवता स्वीकार करता है जबतक उन्हें शस्त्र प्रतिहत (उबालना, काटना, जलाना, शस्त्र-क्रिया आदि) न किया जाय। तथापि, संसार के सभी प्राणियों में यह सजीवता एकसमान नहीं होती। यह परिवर्ती होती है। यह अजीव पदार्थों में शून्य होती है और मुक्त जीवों में अनन्त होती है। अन्य प्राणियों में इसकी कोटि मध्यवर्ती होती है। जैन तंत्र के सिद्धान्त और अनुप्रयोग विभिन्न प्राणियों को अपनी सजीवता की कोटि में संवर्धन करने की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते हैं। इसके लिए कार्मिक घनत्व  $D_k$  (Karmic Density) की कोटि को उच्चतर (पापमय जीवन) से निम्नतर (पुण्यमय जीवन) की ओर प्रवाहित कर उत्परिवर्तित करना आवश्यक है। फिर भी, यह माना जाता है कि सजीवता की उच्चतर कोटि या पवित्रता केवल मानव जीवन के माध्यम से ही सम्भव है। इस जीवन का प्रारम्भ पर्याप्त निम्नतर कार्मिक घनत्व  $D_k$  से ही होता है।

9 : जैनतंत्र के अनुसार, प्राणियों की चार गतियाँ मानी जाती हैं—नरक, देव, पशु और मनुष्य। इसमें मुक्त जीवों की गति को पंचम गति भी माना जा सकता है। इन गतियों का आधार कार्मिक घनत्व का क्रमिक अल्पीकरण तथा भावात्मक शुद्धता का वृद्धिकरण ही है। इसका यह अर्थ है कि जीवों की भावात्मक शुद्धता कार्मिक घनत्व,  $D_k$  के विलोम अनुपात में होती है। वस्तुतः, भावात्मक शुद्धता धार्मिकता के समानुपात में होती है, फलतः धार्मिकता  $R$  भी  $D_k$  के विलोम अनुपात में होगी।

$$\text{अर्थात्, भावात्मक शुद्धता} \propto \frac{1}{D_k}$$

उच्चतम या अनन्त सुख की स्थिति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कार्मिक घनत्व प्रायः शून्य हो जाये जिससे भावात्मक शुद्धता या उच्चतम सुख, अनन्त हो जाय। फलतः यदि सुख,  $H$  को निम्न प्रकार परिभाषित किया जाय,

$$H = \frac{\text{पूरित इच्छाओं की संख्या}}{\text{इच्छाओं की कुल संख्या}} = \frac{D}{D_i} = \frac{D_k}{D_u} \quad (5)$$

जहां  $D$  इच्छायें (Desires) हैं,  $D_i$  अनंत इच्छायें (Infinite Desires) हैं और  $D_u$  अनंत कार्मिक धनत्व है। फलतः यदि  $D_i=0$ ,  $H=\infty$  इनका मान शून्य से जितना ही कम होगा,  $H$  भी उतना ही कम होता जायेगा।

धर्मतंत्र का उद्देश्य सुख  $H$ , को अनंत बनाना है। सामान्य जन के लिये तो यह स्थिति कल्पनात्मक ही है। फलतः वह यह सोचता है कि  $H=\infty$  के लक्ष्य को प्राप्त करने की ओर प्रयत्न करना ही उसका जीवन लक्ष्य है। उपरोक्त गणितीय समीकरण से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि  $H$  को अनंत बनाने के लिये इच्छाओं की संख्या  $D_i$  को न्यूनतम या शून्य करना सरल (या कठिन ?) है क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति प्रायः पर्याप्त सीमित एवं स्थिर-सी होती है। यही तो जैन तत्र का मूल मंत्र है। इसी से उपरोक्त समीकरण की सार्थकता सिद्ध होती है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि इच्छायें  $D$  और कषायें  $P$  समानुपाती हैं। अतः उपरोक्त समीकरण में  $D$  के स्थान पर  $P$  भी रखा जा सकता है।

10. सुख के समान सतोष  $S$ , भी जीवन का लक्ष्य है क्योंकि सतोष एवं सुख की अनुपूर्ति में सीधा सम्बन्ध है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार, सतोष की परिभाषा निम्न है :

$$\text{सतोष, } S = \frac{\text{इच्छित पदार्थों की प्राप्ति}}{\text{इच्छित पदार्थों की संख्या}} = \frac{S}{S_i} \quad (6)$$

जहां  $S$  और  $S_i$  वस्तुओं की प्राप्ति (Acquisition) एवं उनकी सम्पूर्ण संख्या (Total Materials) हैं।

उपरोक्त सभी समीकरणों का एक ही उद्देश्य है—एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति। जैन तत्र में इस जीवन पद्धति को अहिंसक जीवन पद्धति कहा जाता है। जैनो के सभी व्रत, तप, और साधनाये इस जीवन पद्धति के क्रमिक विकास में सहायक होती हैं। यह पद्धति तीन रूपों में व्यक्त होती है—मन से, वचन से और काय से। जैनतत्र तीनों ही दृष्टियों से समन्वित रूप से अहिंसक जीवन अपनाने का मार्ग सुझाता है। इन तीनों

प्रकार की अभिव्यक्तियों की एकरूपता ही महात्माओं का लक्षण बताया गया है। फिर भी, मानसिक अहिंसा अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है।

अनेक विचारकों ने अहिंसा पर कायरता आदि के आरोप लगाये हैं। यह तथ्य नहीं है। सामान्य जीवन में हिंसा चार रूपों में व्यक्त होती है—(1) दैनिक कार्य, घरेलू कार्य, (2) औद्योगिक या आजीविका संबंधी कार्य (3) विरोध-समाधान एवं (4) सकल्पजन्य हिंसा। इनमें सकल्पजन्य हिंसा को छोड़कर अन्य रूप कम बलवान हैं। इसलिए जैन तत्र में सकल्पजन्य हिंसा या मानसिक भावों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वस्तुतः, मन ही हमारे धार्मिक जीवन की सद्गति एवं दुर्गति में निमित्त बनता है।

11 अब समस्या यह है कि D या P को इस उपभोक्तावाद के युग में कैसे कम किया जाय ? इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये जैनो ने सर्वाधिक बुद्धि-सगत, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक उपाय सुझाये हैं। ये निवृत्ति-प्रधान विधेयक उपाय हैं। इनके अन्तर्गत अनेक स्वैच्छिक नियंत्रण एवं अनेक सकारात्मक गुणों का पल्लवन आता है। इनसे नये कर्मों का आश्रय नियंत्रित होता है और कुछ संचित कर्मों की निर्जरा होती है। इससे कार्मिक घनत्व D<sub>1</sub> यथेच्छ कोटि तक कम हो जाता है।

महावीर बीसवीं सदी के मनोवैज्ञानिक सप्रसारण/विज्ञापन कार्यक्रमों से भी उच्चतर कोटि के विज्ञापक थे। उन्होंने अपनी अध्यात्मवादी विचारधारा के विक्रय के लिये वर्तमान संसार को पूर्णतः ही दुःखमय उद्घोषित कर दिया जिससे उनकी विचारधारा अभ्यन्तर और बाह्य तप और अन्य उपायों के आश्रय से कार्मिक घनत्व को कम करने के लिये सर्वोत्कृष्ट मानी जा सके।

जीवन को सुन्दरतम बनाने के लिये, उन्होंने अपने संघ को प्रजातांत्रिक व्यवस्था दी और उसे चतुर्विध संघ का नाम दिया। इसके अन्तर्गत श्रावक श्राविका, साधु और साध्वी समुदाय लिये गये। उन्होंने बताया कि सामान्य गृहस्थ क्रमशः तीन चरणों में सुधर सकता है—(1) सामान्यजन या पाक्षिक चरण (2) नैष्ठिक चरण (3) साधक चरण। पाक्षिक श्रावक के चरण में व्यक्ति को 8 या 35 (मूल-गुण या मांगानुसारी गुण) मूलभूत चारित्रिक नियमों का पालन करना पड़ता है जिसमें सात्त्विक भोजन, भोजन की पद्धति पर नियंत्रण (शाकाहार, अवमौदर्य आदि) और ईमानदारी का जीवन

विताना समाहित है। इन मूलभूत चारित्रिक क्रियाओं के परिपालन के बाद जीवन सुधार का दूसरा चरण—नैष्ठिक चरण चालू होता है जिसमें प्रेम और शांति (अहिंसा), सत्य, ईमानदारी, स्वपत्नीव्रत तथा सम्पत्ति के समान वितरण के समान पांच अनिवार्य अणुव्रतों के परिपालन का अभ्यास किया जाता है। ये व्यक्ति और समाज में भाईचारे की भावना का विकास करते हैं। इन पांच अणुव्रतों के अतिरिक्त, सात पूरक व्रत भी होते हैं जिनमें गमन, दिशा, भोग्य सामग्री, आहार के साथ साधु एवं दुखी जनो की सेवा तथा पापमय या उपेक्षणीय क्रियाओं पर नियंत्रण भी समाहित है। वस्तुतः ये सात व्रत अणुव्रतों के पालन के प्रायोगिक विस्तार ही हैं। इस सामान्य जैनचर्या में छह आवश्यक या दैनिक कर्तव्य भी होते हैं— (1) देवपूजा, (2) गुरु सम्मान (3) शास्त्रों का स्वाध्याय, (4) आहार एवं इन्द्रियजन्य विषयो पर नियंत्रण (संयम) (5) जप-तप और (6) औषध, शास्त्र (स्कूल, पाठशाला आदि खोलना), अभय (पक्षी अस्पताल, धर्मशाला आदि) और आहार के रूप में चार प्रकार के समाज हितकारी काम करना। इन कर्तव्यों के साथ आगमों में सामायिक (ध्यान, जप-तप) और प्रतिक्रमण (किये हुये-अशुभ कार्यों के लिये आलोचना एवं प्रायश्चित्त एवं आगे न करने का संकल्प) को भी सामान्य कर्तव्यों में गिनाया गया है। वस्तुतः ये दोनों भी तप के ही अंग हैं। यही वे कर्तव्य हैं जिन्होंने जैन सघ को परिरक्षित कर रखा है। साथ ही, जैनो की अनेक जनहितकारी प्रवृत्तियों ने भी उनको भारतीय समाज में प्रतिष्ठित स्थान दिलाया है। ये कर्तव्य जैन तंत्र के मनोविश्लेषण एवं समाजशास्त्र से गहनतः संबंधित हैं, यह स्पष्ट है।

व्यक्ति एवं समाज के लिये हितकारी इन अणुव्रतों, पूरक व्रतों, छह, आवश्यक दैनिक कर्तव्यों के परिपालन करने पर सामान्यजन एक ग्यारह-चरणी चारित्र श्रेणी (जिसे प्रतिमा कहते हैं) पर आरुढ़ होता है जिसके परिपालन से पूर्वोक्त व्रतों में सूक्ष्मता आती है। भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण के प्रति अर्न्तदृष्टि जागती है। इस चारित्र श्रेणी के अंतिम ग्यारहवे चरण पर सामान्य जन आध्यात्मिक विकास के तृतीय चरण—साधक या साधु चरण की ओर चलने लगता है। सामान्य जन पूर्वोक्त व्रतों को सूक्ष्मता से एवं पूर्णता से परिपालन नहीं कर सकता, क्योंकि उसे आजीविका और अन्य समस्याओं से जूझना पड़ता है। इसलिये उसे आंशिक सयमी श्रावक कहते हैं और उसके व्रतों को भी स्थूलव्रत ही कहा जाता है। फिर

भी, इन व्रतों के परिपालन से वह ऐसी दिशा की ओर प्रवृत्त होता है जहाँ उसकी सासारिक एवं अशुभ कार्यों में रुचि कम होने लगती है।

जैनतंत्र में साधु-सस्था को पूर्ण-सयमी कहा जाता है। उसकी मानसिकता शुद्धतर होती है। उसके लिये व्रतो का परिपालन सूक्ष्मतर और व्यापक होता है, अतिक्रम-विहीन होता है। साधु की आंतरिक ऊर्जा भी वर्धमान होती है। प्रत्येक साधु को सघ में विशिष्ट प्रक्रिया एवं परिवार जनो की अनुमति से ही दीक्षित किया जाता है। इनके व्रत और चारित्र सामान्य गृहस्थो के समान ही होते हैं पर उनके परिपालन में अधिक सूक्ष्मता होती है। इसलिये वे "महाव्रत" कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, सामान्य गृहस्थ की अहिंसा में दृश्य जीवों का पीड़न-निरोध या स्थूलता समाहित है जबकि साधु की अहिंसा में दृश्य, अदृश्य और सूक्ष्म-सभी प्रकार के जीवों का-यहां तक कि एकेन्द्रिय वनस्पतियों का भी हिंसन वर्जित है। साधुओं को चलने-फिरने, बात-चीत करने, उपकरणों को उठाने-धरने, मलोत्सर्जन करने तथा आहार ग्रहण करने में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। उन्हें अपनी मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं में भी सचेतता बरतनी पड़ती है। उन्हें, साधु अवस्था में अनेक प्राकृतिक उपसर्गों एवं क्षुधा-तृषा आदि बाईस भौतिक या मानसिक परीषहों को सहने का अभ्यास करना पड़ता है। इन सावधानियों के समुचित अभ्यास को मानसिकत प्रबल बनाने के लिये (i) उत्तम क्षमादि दस धर्मों का पालन—जो अणुव्रतों के ही विस्तार हैं, (ii) अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिंतन, (iii) अनेक अभ्यतर और बाह्य तथ्यों का अभ्यास जिनमें कुछ और आहार नियंत्रण के उपाय रहते हैं जो दीर्घजीवितों के लिए आवश्यक हैं और जिनसे कठोर साधना करने की क्षमता प्राप्त होती है, (iv) विभिन्न प्रकार के आसन और ध्यान तथा (v) समता-उत्पादी चरित्र के अनेक रूपों का अभ्यास भी करना पड़ता है। इन अभ्यासों से न केवल अंतरंग ऊर्जा की वृद्धि ही होती है, अपितु उसका सांद्रित एक-दिशीकरण भी होता है जिससे व्यक्ति में ईश्वरत्व के गुणों का पल्लवन होता है। सक्षेप-में, शास्त्रों में बताया गया है कि प्रत्येक साधु को चौदह-चरणी अध्यात्म विकास की श्रेणी पर आरुढ़ होने के लिये 28-36 गुणों को, अनुभव से, विकसित करना पड़ता है जिससे अन्त में उसे उच्चतम सुख की प्राप्ति होती है।

चाहे गृहस्थ हो या श्रावक, उसके सभी अनुपालन व्यक्तिगत श्रेणी में

आते हैं क्योंकि व्यक्ति ही समाज का मूल होता है। समाज व्यक्तियों का समुदाय ही तो है। यदि व्यक्ति भौतिक एवं भावात्मक चरित्र में विकसित है, तो उनसे बने समाज में भी अच्छे गुणों की गरिमा विकसित होगी। साथ ही, समाज में साधुओं और गृहस्थों का अनुपात प्रायः 4-5/10,000 के रूप में बहुत समय से स्थिर रहा है। इससे समाज के धार्मिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन में साधुओं की महत्ता स्पष्ट होती है।

12. व्रतों का अभ्यास करते समय जैन गृहस्थों को जैनों के विशिष्ट आध्यात्मिक गणित का अनुभव होता है जहां गुण-संख्याओं का योग उनके गुणनफल के प्रभावी रूप में होता है। यह स्थिति व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिक, तीनों स्तरों पर पाई जाती है।

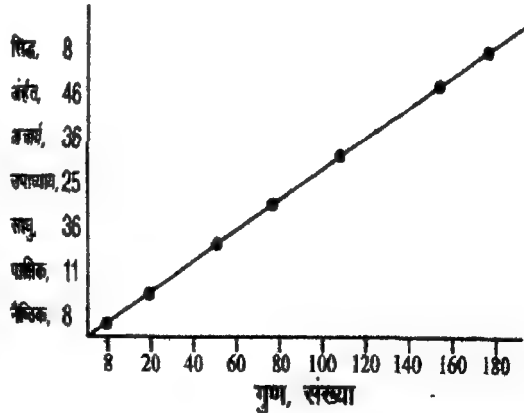
(अ) सम्यक् (दर्शन + ज्ञान + चारित्र) = सम्यक् (दर्शन x ज्ञान x चारित्र).....(7)

(ब) श्रम + स्वावलंबन + समानता = श्रम x स्वावलंबन x समानता.....(8)

(स) अहिंसा + अनेकात + अपरिग्रह = अहिंसा x अनेकात x अपरिग्रह या, अ + अ + अ = अ<sup>3</sup>.....(9)

13. जैनो को वर्गीकरण, परिमाणीकरण एवं वर्धिवेशन प्रक्रियाओं का विशारद माना जाता

है। धार्मिक क्षेत्र में, उन्होंने मूलभूत हिस्सा के 108 भेद बताये हैं और विभिन्न व्रतों के 243 अतीचार या अतिक्रम बताये हैं। इसके विपर्यास में, उन्होंने सदगुणों का भी वर्गीकरण किया है। उन्होंने पांच परमेष्ठियों के 108 गुण बताये हैं। इन



चित्र 1- मनुष्य की विविध अवस्थाओं में गुण गुणों के स्मरण एवं पल्लवन के लिये अथवा पूर्वोक्त 108 दोषों के निवारण

के लिये 108 गुटिका-वाली माला का जाप, इसीलिये, जैनतंत्र में बहुत लोकप्रिय है। गृहस्थो एव पाच परमेष्ठियो के कुल 170 गुण बताये गये हैं जो एक रैखिक चित्र बनाते हैं। साथ ही, आचार्यों ने मनोविश्लेषण पूर्वक गणित की प्रक्रिया से 18000 शील और 84 लाख गुण बताये हैं। यह परिमाणीकरण की प्रवृत्ति, निश्चित रूप से, जैन तंत्र को विश्वसनीयता प्रदान करती है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि जैन आचार्यों ने सुखवर्धक गुणों की ओर, पापवर्धक-दोषों की तुलना में, अधिक ध्यान दिया है। यह प्रवृत्ति जैन तंत्र के उस उद्देश्य के अनूकूल है जिसके अनुसार वह व्यक्ति, समाज और सभी प्राणियों का सुख सम्बर्धन चाहता है। यह उद्देश्य ही इस तंत्र का सर्वोदयी रूप है।

### 3. जैन तंत्र की वैज्ञानिकता

सभी भारतीय तंत्रों में सामान्यतः विद्या की एक ही देवी—सरस्वती मानी जाती है जो भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञानों की एकता की प्रतीक है। यह भौतिक विज्ञानों और अध्यात्म प्रमुख धर्म में विशेष अंतर नहीं करती। वे एक ही अस्तित्व के दो रूप हैं। इसीलिये विज्ञान को भी धर्म या दर्शन के समान मानव की एक विशिष्ट मानसिक प्रवृत्ति माना जाता है जिसमें निरीक्षण, परीक्षण, निर्णय एव अभिलेखन या स्मरण की प्रक्रियाएँ काम करती हैं। ये प्रक्रियाएँ जैन दर्शन में दृश्य जगत के ज्ञान के लिये वर्णित अवग्रहादि चार चरणों के अनुरूप हैं। विज्ञान की बस्तुनिष्ठता, व्यक्ति निरपेक्षता और पुनरावर्तनीयता उसे विश्वसनीयता प्रदान करती है। वैज्ञानिक विधियों में मात्र व्यक्तिनिष्ठता नहीं होती, इसीलिये वह सार्वत्रिक रूप से अनुप्रयोजनीय होता है। यद्यपि धर्म भी सार्वजनीनता की ओर लक्षित होता है पर यह मनोवैज्ञानिक एव नैतिक क्षेत्र को प्रमुखता देता है। फिर भी, यह कहना चाहिये कि यह भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रभावी सफलता के समान आध्यात्मिक क्षेत्र में सफल नहीं हो पाया है। तथापि यह स्पष्ट है कि विज्ञान और धर्म दो दुहिता-तंत्र हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। फिर भी, विज्ञान जिज्ञासु की मनोवृत्ति, पूर्वाग्रह रहितता, परपश एवं विश्वासों के प्रति विमोहता, उपयोगी ज्ञान के प्रति आदरभाव एव स्वतंत्र साहसिकता के कारण धर्म से विशिष्टता प्रदर्शित करता है। विज्ञान के इस दृष्टिकोण ने परम्परागत ज्ञान के प्रति अनेक क्षेत्रों में आस्था जगाई है। इसी से यह



अभ्युक्ति भी चल निकली है कि विज्ञान के बिना धर्मतंत्र अंधा माना जाता है। इस प्रकार "विज्ञान" धर्मतंत्रों के अन्तर्दर्शन के लिये आंख का काम करता है। वर्तमान युग वैज्ञानिक धर्म में ही रुचि रखता है।

### अ. जैन तंत्र में वैज्ञानिक दृष्टि का पल्लवन

विज्ञान का क्षेत्र 'क्या है और क्यों है' में सीमित है जबकि धर्मतंत्रों का क्षेत्र 'क्या होना चाहिये' की दृष्टि देती है। इस तरह, विज्ञान धर्म के क्षेत्र को उपगमित करता हुआ प्रतीत होता है। आइस्टीन ने सच ही कहा है थोड़ा-सा विज्ञान हमें धर्म से दूर करता है लेकिन कुछ अधिक विज्ञान हमें पुनः धर्म की ओर ले जाता है।

जैनतंत्र अनीश्वरवाद की धारणा से प्रारंभ होता है। इसलिए इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि यह जगत की घटनाओं और समस्याओं के विवेचन में वैज्ञानिक क्रियापद्धति अपनाता है और अपनी वैज्ञानिकता व्यक्त करता है। वस्तुतः जैन यह अनुभव करते हैं कि मानव पहले वैज्ञानिक है क्योंकि वह अपना जीवन बाह्य जगत के प्रथम दर्शन से प्रारंभ करता है। वह धार्मिक तो बाद में होता है जब वह अन्तर्जगत की ओर ध्यान देता है। जैन आचार्यों ने प्रारम्भ से ही व्यक्ति में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने के प्रयास किये हैं। इसकी पहली पवित्र पुस्तक "आचारंग" में कहा गया है कि आचार्य दृष्ट, श्रुत, अनुभूत एवं सुविचारित सत्य को कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धि और प्रज्ञा के माध्यम से सीखने के लिये जिज्ञासु बनना चाहिये। उत्तराध्ययन में भी धर्म के सिद्धान्तों को प्रज्ञा एवं बुद्धि से परीक्षित कर स्वीकृत करने की बात कही है। कुद-कुद ने भी अपने अनुभूत सत्य को अन्यथा पाये जाने पर सशोधित करने की बात कही है। समतभद्र और सिद्धसेन दिवाकर, हेमचन्द्र और आशाधर आदि ने भी विभिन्न युगों में यही सदेश दिया है। उन्होंने तो शास्त्रों की प्रामाणिकता के सिद्धान्त भी बताये हैं। अच्छे शास्त्र अविश्ववादी होने चाहिये, प्रत्यक्ष (पारमार्थिक और साव्यवहारिक) और अनुमान (तर्क बुद्धि आदि) से बाधित नहीं होने चाहिये। उन्हें यथार्थ विवेचक, असंदिग्ध और विरोध रहित होना चाहिये। वे यह भी आशा करते हैं कि प्रत्येक श्रावक को बुद्धिमान एवं प्रज्ञावान होना चाहिये। जैनतंत्र की यह परीक्षा-प्रधानी वृत्ति ही इसके अनुयायियों के दृढ़ विश्वास का मूल आधार रही है और यही

इसकी परिलक्षित दीर्घजीविता का कारण है।

इस वैज्ञानिक दृष्टि के पल्लवन के साथ ही, दीक्षित ने इसके सिद्धान्तों के विकास को जानने के लिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाने का एक नवीन सुझाव दिया है। उन्होंने इस मत के परिपोषण में अनेक विचारों के विकास को निर्देशित भी किया है।

इस प्रकार, जब जैन आचार्य परीक्षा-प्रधानी दृष्टि के उद्घोषक रहे हैं, तब यह कैसे संभव है कि जैन तंत्र वैज्ञानिक न हो ? यही कारण है कि इस सदी के अनेक विद्वानों ने इसके सिद्धान्तों को वैज्ञानिक विधि एवं भाषा में विश्लेषित किया है। उन्होंने बताया है कि यह तंत्र केवल धर्मतंत्र ही नहीं है, अपितु समग्र विज्ञान है जो समस्त विश्व को समेकीकृत रूप में मानने के लिये वैज्ञानिक आधार देता है। इसके सिद्धान्तों को आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में—कम से कम गुणात्मक रूप में तो पुनर्व्याख्यायित किया ही जा सकता है। कुछ प्रकरणों में तो यह उनसे आगे भी जाता है और ज्ञान के क्षेत्र में अपना विशिष्ट योगदान करता है। यहाँ हम जैनतंत्र की वैज्ञानिकता को निरूपित करने वाले कुछ प्रकरण देने का प्रयास कर रहे हैं। ये प्रकरण प्रायः भौतिक जगत से ही संबंधित हैं।

वस्तु तत्त्व की प्रकृति के आधार पर उसकी परीक्षा व्यक्तिनिष्ठ प्रतिभा या स्वानुभूतिजन्य ज्ञान से की जा सकती है अथवा तर्क और बुद्धि के माध्यम से वस्तुनिष्ठ रूप में की जा सकती है। सिद्धसेन ने इस परीक्षा विधि को अच्छी तरह व्याख्यायित किया है और सुझाया है कि जगत में कुछ ही वस्तुये या तत्व ऐसे हैं जिनका परिज्ञान शास्त्रों या अतीन्द्रिय अनुभव से होता है। फिर भी, एक ऐसा समय आया जब ये कुछ वस्तुये या तत्व (आत्मा, मोक्ष-आदि) ही प्रधान हो गये। इस प्रवृत्ति ने सामान्य जन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रभावित किया और धर्मतंत्र बौद्धिक राजपथ से विचलित होकर श्रद्धापथ की ओर उन्मुख हो गया। यह स्थिति अब भी चल रही है। इससे वर्तमान में धार्मिक आस्था में क्षरण के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। जैनतंत्र की वैज्ञानिक दृष्टि की पुनः स्थापना ही उसे बलवान बना सकती है।

**ब. ज्ञान का सिद्धान्त : बहु-दृष्टि परीक्षण का सिद्धान्त : अनेकांतवाद**

जैन आचार्यों ने सदैव यह प्रयत्न किया है कि प्रत्येक वस्तु (भौतिक या अमूर्त) का अध्ययन अनेक दृष्टिकोणों से किया जाय जिससे इसके विषय

मे समग्र ज्ञान संभव हो सके। शास्त्रीय विवरणों के अनुसार, अध्ययन के इन दृष्टिकोणों की संख्या अब 130 तक चली गयी है। इस संख्या के आधार पर वस्तु के विषय में समग्र ज्ञान पाने की जटिलता स्पष्ट है। यह वस्तु स्वरूप की व्यक्तिनिष्ठ जटिलता का संकेत है। इतने अधिक कारकों के कारण इस कंप्यूटर युग के वैज्ञानिक भी इसका समग्र अध्ययन नहीं कर सकते। साथ ही, विभिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन करते समय कभी कभी एक ही वस्तु के विषय में विरोधी-से लगते विवरण भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, एक ही व्यक्ति किसी का पिता, भाई चाचा, पति, ससुर और साला होता है। यह तथ्य भिन्न-भिन्न संबंधों की दृष्टि से ही सत्यापित किया जा सकता है (पुत्र, पत्नी, भाई, इत्यादि दृष्टियों से)। इस प्रकार प्रत्येक सबंध सापेक्षतः ही सत्य हैं, पूर्ण सत्य नहीं है। फलतः, प्रत्येकवस्तु का विशिष्ट स्वरूप सापेक्षता पर आधारित होता है। इसका समग्र विवरण हम अपनी भाषा के माध्यम से नहीं दे सकते। इसलिए हमारा ज्ञान सापेक्ष ज्ञान होता है और वह अंशतः ही सत्य हो सकता है। इस आंशिक सत्यता के निरूपण की विधि को जैनतंत्र में नयवाद कहा जाता है। चूंकि वस्तु के अध्ययन के लिये अनेक दृष्टिकोण होते हैं, अतः नय भी अनेक होते हैं। इन नयों से प्राप्त ज्ञानों के समग्र परिकलन की दृष्टि को स्याद्वाद या अनेकातवाद कहते हैं। यह सापेक्षतावादी वास्तविकता जैनतंत्र के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की मूलाधार रही है। यह एकातवादी दृष्टिकोणों के विपर्यास में जाती है। गणित की भाषा में,

**समग्र वस्तु स्वरूप = स्याद्वाद = संकलित नय =  $\Sigma$  नय.....10**

फलतः जैनतंत्र के अनुसार, हमारा सामान्य ज्ञान सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं। यह सर्वज्ञ के लिये तो संभव है पर उसके लिये भी उसकी भाषिक अभिव्यक्ति कठिन होगी।

यह बताया गया है कि किसी भी वस्तु के विषय में सामान्य ज्ञान की प्राप्ति अधिकतम सात दृष्टियों से की जा सकती है। इस दृष्टि समुच्चय को सप्त भगी कहा जाता है। कोठारी ने बताया है कि यह सिद्धान्त क्वांटम यांत्रिकी के अधिस्थान सिद्धान्त से समर्थन पाता है जहां वास्तव में सप्तप्रकारी विवरण ही संभव होता है। इस जैन सिद्धान्त में परिमाणात्मकता न भी हो, पर इसकी बौद्धिक गंभीरता एवं यथार्थता असदिग्ध है। यह

बहुदृष्टिकोणी विधि बोहर के पूरकता सिद्धान्त का भी आधार है जैसा मुनिश्री और कोठारी ने स्पष्ट किया है। इसके बावजूद भी, जैन वैज्ञानिक अनिश्चायकतावाद के सिद्धान्त से आगे चले गये हैं, जब वे यह कहते हैं कि वस्तुतत्त्व का वास्तविक स्वरूप वर्णनातीत या अवक्तव्य है। इस तथ्य को उन्होंने सप्तमगी के चौथे विकल्प के रूप में स्वीकार किया है। अनेकातवाद की इस अवधारणा को गणितीय रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। यदि वास्तविक सत्य T (Truth) हो और दृष्टिकोणों को P (Aspects) मानलिया जाय, तो संत्य अनंत दृष्टिकोणों का सम्मिलित रूप होगा, अर्थात्

$$\int_{-\infty}^{+\infty} P dp = T = 0 \dots \dots \dots (11)$$

इससे यह संकेत मिलता है कि वास्तविक सत्य तो एक ही है पर वह अवक्तव्य (0, शून्य) है। इसी के विकल्प के रूप में, सप्तमगी के आधार पर एक अन्य समीकरण भी दिया जा सकता है :

$$\int_{-1}^{+7} P dp = T = 24 \dots \dots \dots (12)$$

जहां वस्तुतत्त्व के 24 पैरामीटर वास्तव में समाधेय नहीं हैं। इससे भी सत्य की अवक्तव्यता प्रकट होती है। हाल्डेन और महलनबोईस ने सांख्यिकीय दृष्टि से भी यह सिद्ध किया है कि वास्तव में वस्तु के अध्ययन की दृष्टियां सात ही सम्भव हैं :

$$3_{c_1} + 3_{c_2} + 3_{c_3} = (3+3+1) = 7 \dots \dots \dots (13)$$

लेनिन के समान क्रांतिकारियों ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है। इस विषय में विशेष जानकारी के लिये पाठकों को मुनिश्री, मुखर्जी, कोठारी एवं हाल्डेन की पुस्तकें और शोध पत्र पढ़ना चाहिये।

ज्ञान की सापेक्षता और प्रत्येक दृष्टिकोण की आंशिक सत्यता के सिद्धान्त के अनेक लाभ स्पष्ट हैं। इससे व्यक्ति और समाज में सहिष्णुता

की भावना विकसित होती है, एक-दूसरे को समझने का भाव उत्पन्न होता है। यह शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिये बौद्धिक भूमिका प्रदान करता है। अब तो इसकी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय उपयोगिता के भी विविध रूप सामने आ गये हैं।

ज्ञान की सापेक्ष प्रकृति के प्रकरण में यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह मात्र इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होने वाला ज्ञान है। इसे मति या सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त, ज्ञान के कुछ अतीन्द्रिय रूप भी होते हैं जिन्हे शास्त्रों में अवधि (क्लेयरवायंस), मनःपर्यय (टेलीपेथी) और केवल (एब्सोल्यूट) ज्ञान कहा जाता है। इनके अतिरिक्त, प्राचीन आचार्यों एवं केवलज्ञानियों द्वारा रचित आगम या शास्त्र भी ज्ञान के स्रोत हैं और वे भी श्रुत ज्ञान के रूप में माने जाते हैं। शास्त्रों में श्रुत की परिभाषा एवं प्रामाणिकता का अच्छा विवरण है। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान का उत्तरवर्ती रूप है। इस प्रकार, जैन तत्र में पांच ज्ञानों की परम्परा है। इनमें केवल ज्ञान को छोड़कर अन्य चार ज्ञान तो प्रयोग पुष्ट भी हो गये हैं (दो पूर्णतः और दो अंशतः)। इनके आधार पर केवल ज्ञान की संभावना बहिर्वेशित की जा सकती है। हा, इन्द्रियज ज्ञान में अब सूक्ष्म या स्थूल उपकरण-जन्य ज्ञान भी समाहित होता है।

### स. जैन तर्कशास्त्र

जैन ग्रन्थों में इन्द्रियो और उपकरणों के माध्यम से होने वाले ज्ञान के अनेक रूप बताये गये हैं। इनमें स्मरण (मेमोरी), प्रत्यभिज्ञान (रिकग्नीशन) और तर्क ज्ञान (लोजिक) महत्वपूर्ण हैं। यह माना जाता है कि भौतिक जगत की घटनाओं के ज्ञान में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन्द्रियों के निरीक्षण और उनकी बौद्धिक एवं तर्कशास्त्रीय परीक्षा महत्वपूर्ण है। यद्यपि शास्त्रों में कहा गया है कि यह ज्ञान अनुमानित ही होता है, फिर भी सामान्य जन के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इससे अच्छा विकल्प नहीं है। इस ज्ञान के चार वैज्ञानिक चरणों का संकेत ऊपर किया जा चुका है। इस ज्ञान के माध्यम से ही व्यक्ति परोक्ष या तर्कशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करता है। जैन तर्कशास्त्रियों ने निरीक्षणों से निष्कर्ष प्राप्त करने के लिये अनुमान की पंच प्रकारी विधा (सिलोगिज्म) विकसित की है। कोई व्यक्ति पर्वत पर धुआं देखता है। इस

निरीक्षण के आधार पर इस पंच चरणी विधा के अनुप्रयोग से वह पर्वत पर अग्नि के होने का निम्न चरणों में अनुमान लगा लेता है:

1. पर्वत पर अग्नि है (प्रतिज्ञा, विश्लेषण)
2. क्योंकि वहां पर धुवां दिख रहा है (निरीक्षण, हेतु, कारण)
- 3a. जहां जहां धुवा होता है, वहां वहां अग्नि होती है, जैसे रसोई घर (समर्थक निदर्शन, निरीक्षण)
- 3b. जहां धुवा नहीं होता, वहां अग्नि भी नहीं होती, जैसे पानी का तालाब (विरोधी निदर्शन, निरीक्षण)
- 4 चूंकि पर्वत पर धुवा दिख रहा है (विश्लेषण, अनुप्रयोग)
- 5 इसलिये पर्वत पर अग्नि है (निष्कर्ष, अनुमान)

यह न्यायशास्त्रीय पुरातन युग का उदाहरण है जो आज के धुवारहित गैस या विद्युत भट्टियों के युग में व्यभिचारी या अनैकांतिक दोष के कारण विचित्र-सा लग सकता है। न्यायशास्त्र के अनेक प्राचीन उदाहरणों की नियति भी आज ऐसी ही हो सकती है। तथापि उन दिनों धुवा और अग्नि के सह-चरित होने का तथ्य निरीक्षित था। यह पंचचरणी निष्कर्ष-निर्धारण प्रक्रिया निरीक्षण, विश्लेषण और निर्णय के वर्तमान वैज्ञानिक चरणों को निरूपित करती है जो आज भी सह-संबंधित तंत्रों में अनुप्रयुक्त होती है। प्राचीन जैन आचार्यों ने जो ज्ञान राशि उपलब्ध की थी, उसका आधार यही वैज्ञानिक तर्कशास्त्र विधि थी। यह तत्कालीन युग के लिये वैध माननी चाहिये। तथापि इसकी वैधता ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही होगी।

भारत में पूर्व-मध्यकाल से उत्तर मध्यकाल तक तर्कशास्त्र का अच्छा विकास हुआ। इसमें जैनो का महत्वपूर्ण योगदान है। इस विकसित तर्कशास्त्र में अनेकातवाद के उपयोग से, जैनो ने अनेक शास्त्रार्थ जीते और अपने को एकान्ती मान्यताओं के विपर्यास में मध्यमार्गी बनाया। निश्चय और व्यवहार दृष्टियों को अपनाकर उन्होंने आत्मा की मूर्तता-अमूर्तता, शब्द की नित्यानित्यता, परमाणु की द्विविधता आदि के व्यावहारिक सिद्धान्तों का संपोषण किया। तर्कशास्त्र ने जैन तंत्रों को वैज्ञानिकतः सूक्ष्म निरीक्षक बनाया एवं बौद्धिकतः तीक्ष्ण विश्लेषक भी बनाया। जैनो के तर्कशास्त्र की आज भी महती प्रतिष्ठा है। यह उनकी वैज्ञानिकता का परिचायक भी है।

### द. सैद्धान्तिक अवधारणार्थ और भौतिक जगत की घटनायें

भौतिक जगत से संबंधित घटनायें, मुख्यतः, दो प्रकार की होती हैं—कुछ तो दृश्य होती हैं जैसे छह द्रव्य, जीवों का इन्द्रिय-आधारित वर्गीकरण, इन्द्रियो की कार्यपद्धति, ध्वनि की उत्पत्ति और संप्रसारण और पदार्थ एवं ऊर्जा के विविध रूप आदि। कुछ घटनायें ऐसी होती हैं जिन्हें हम अदृश्य भी कह सकते हैं। इन्हें हम अवधारणात्मक, प्रातिभ या बौद्धिक विचारात्मक भी कह सकते हैं। इनके अंतर्गत कर्मवाद, परमाणुवाद आदि समाहित होते हैं। यह पाया गया है कि समकालिक दृष्टि से जैनो ने अवधारणात्मक क्षेत्र में अधि-वैज्ञानिकता का प्रदर्शन किया है। इसके विपर्यास में, वे दृश्य घटनाओं के विवरणों में उतने सफल नहीं माने जा सकते। फिर भी, यह महत्व की बात है कि उन्होंने उपकरणविहीन युग में अनेक दृश्य घटनाओं की व्याख्या का प्रयास किया है।

#### (i) परमाणुवाद और मौलिक कण

अवधारणात्मक विचारों के क्षेत्रों में जैनो ने सम-सामयिक दृष्टि से ससार को उत्तम कोटि का परमाणुवाद प्रस्तावित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे परमाणुओं के गुणों के निरूपण में पर्याप्त प्रगत विचारक थे। इन गुणों में उनकी वैद्युत प्रकृति, गत्यात्मक गुण, अविनाशिता एवं उनके संयोग के नियम-जो वर्तमान संयोजकता सिद्धान्त के समतुल्य हैं-मुख्य हैं। बहुतेरे विद्वान्, जैन परमाणु के अविभागी होने की अवधारणा को अब भी मानते हैं और वे उसे इलेक्ट्रॉन से लेकर क्वार्क तक की समकक्षता प्रदान करते रहे हैं। लेकिन सामान्य परमाणु संयोगों की ऊर्जात्मक आवश्यकतायें यह संकेत देती हैं कि इन परमाणुओं को अन्य समकालीन दार्शनिकों के द्वारा मान्य परमाणुओं के समकक्ष मानना चाहिये। वैज्ञानिक सिद्धान्त और अवधारणायें नये विचारों और तकनीकों के कारण सदैव परिवर्धित होने की क्षमता रखती हैं। यह क्षमता, सामान्य विचारधारा के विपर्यास में, अनेक धार्मिक अवधारणाओं में भी पाई जाती है।

परमाणु के अविभागी मानने की अवधारणा की कठिनाईयों को ध्यान में रखकर ही जैनो ने परमाणु के दो रूप माने—(1) आदर्श, या कारण परमाणु और (2) व्यवहार या कार्य परमाणु। इनमें व्यवहार परमाणु तो विभाजित हो सकता है लेकिन आदर्श परमाणु नहीं। सम्भवतः परमाणु संबंधी शास्त्रीय

विवरण व्यवहार परमाणु की निरूपक हो। यही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि जैन कर्मवाद के कर्म परमाणु या कर्म वर्णनायें आदर्श परमाणु से वृहत्तर हो और उनके समुच्चय से निर्मित हों जिन्हें मर्डिया ने कार्मन-कण कहा है। ये कार्मन कण वर्तमान भौतिक या अव-परमाणुक कणों में एक नये कण के रूप में सहयोजित किये जाने चाहिये क्योंकि इनके विशिष्ट गुण होते हैं। ये सजीव तंत्रों से संयोजित होते हैं। इसी प्रकार, फाइनवर्ग ने मन के भौतिक स्वरूप को व्यक्त करने के लिये उसको "माइडोन" कणों से निर्मित बताया है।

### (ii) ऊर्जाओं का अन्योन्य परिवर्तन

जैन शास्त्रों में ध्वनि, प्रकाश, ऊष्मा, ज्योत्स्ना आदि के रूप में अनेक ऊर्जाओं का अनुसूचन एवं विवरण है। ये ऊर्जाओं को कणिकामय मानते हैं यद्यपि वे सूक्ष्मतर होती हैं। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ और ऊर्जा—एक ही द्रव्य के दो रूप हैं। इससे यह भी संकेत मिलता है कि जैनो की ऊर्जाओं की कणिकामयता की धारणा अठारहवीं सदी के न्यूटन के युग के समकक्ष है। सापेक्षतावाद के नए सिद्धान्त ने इस पुरातन धारणा में किंचित् परिवर्तन किया है और ऊर्जाओं और कणों की प्रकृति को द्वैती माना है। इससे ऊर्जाओं के अन्योन्य-रूपांतरण की धारणा को बल मिलता है जिसमें उच्च ऊर्जा का व्यय होता है। पदार्थ और ऊर्जा की कणिकामयता की जैन अवधारणा में इस अन्योन्य-रूपांतरण के बीज तो समाहित हैं ही।

### (iii) प्राकृतिक बल

जैनो की यह मान्यता है कि प्रत्येक सजीव या निर्जीव तंत्र में एक सहज आन्तरिक बल या ऊर्जा निहित रहती है। इसके अतिरिक्त वे तीन बल और मानते हैं—(1) मनोबल, आंतरिक या आत्मबल (2) वचनबल या वाक्शक्ति और (3) कायबल या भौतिक बल। ये बल भी सजीव और निर्जीव—दोनों तंत्रों में पाये जाते हैं और अनेक रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। इनमें मनोबल तो सजीव तंत्रों में ही पाया जाता है, पर अन्य दोनों बल दोनों तंत्रों में पाये जाते हैं। वचन बल को ध्वनि या वचनों के रूप में लिया जा सकता है। यह आज के क्रियात्मक बल का एक रूप है। इसके एक रूप—मंत्र बल से भी सभी परिचित हैं। यह वरदान और अभिशाप, सिद्धि और विनाश—सभी रूपों में व्यक्त होता है। भौतिक बल दो प्रकार के बताये



गये हैं—(1) कार्यकारी और (2) विरोधी। जैनों में क्षयकारी, उपशम य दमनकारी एवं आकर्षण बल भी माने गये हैं। ये मनोबल और कायबल (तप आदि) के समवेत परिणाम हैं। जैन तंत्र में वस्तुओं के पतन में सहायक गुरुत्व बल का भी परोक्ष संकेत है। इन्होंने एक अन्य भौतिक बल—कर्म शक्ति को भी माना है जो हमारी भौतिक एवं भावात्मक क्रियाओं तथा परजन्म के लिये उत्तरदायी है। कर्मबल S (Karmic force) और प्रभाव R (Effect) के अध्ययन से वीवर-फ्रेशनर ने एक आनुमतिक समीकरण प्रस्तुत किया है

$$S = K \ln R \dots\dots\dots (14)$$

जहां विशिष्ट प्रेरकों से विशिष्ट परिणामों का संकेत मिलता है। यह समीकरण मध्यम परिसर के प्रेरकों के प्रभाव पर सत्यापित किया गया है। इससे कर्मबल की मनोवैज्ञानिकता विश्वसनीय बन गई है। इससे यह सभावना बलवती हो गई है कि कर्मवाद के व्यापक प्रभावों की मनोवैज्ञानिकता की गणितीय व्याख्या की जा सकती है। इस दिशा में गहन चिंतन और प्रयत्न आवश्यक है।

जैनों का कर्मबल (या क्रियाये) कर्मों के आस्रव और बध के लिये तो उत्तरदायी है ही, वह एक अन्य महत्वपूर्ण सासारिक प्रक्रिया—जीवों के प्रजनन, जीवन-संचरण के लिये भी उत्तरदायी है। यह कहा जा सकता है कि कार्मिक बलों का घनत्व  $D_k$  उच्चतर गतियों  $D_y$  (Destinity)-नरक, देव, तिर्यन्च और मनुष्य—के विलोम अनुपात में होता है, अर्थात्

$$D_k \propto \frac{1}{D_y}, \text{ या } D_y \propto \frac{1}{D_k} \dots\dots\dots (15)$$

इस समीकरण से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि मनुष्य गति अल्पतर कार्मिक घनत्व के कारण मिलती है। इसी गति से उच्चतम सुख की दशा प्राप्त की जा सकती है। प्राणि जगत का प्रत्येक घटक अपनी गति को, अपने कार्मिक घनत्व के संचय के अनुपात में, उच्चतर या निम्नतर गति में अपर जन्म में उत्परिवर्तित कर सकता है। इस दृष्टि से जैन कर्मवाद डार्विन के विकासवाद का किञ्चित् समुन्नत मनोवैज्ञानिक रूप है जहां

केवल जीव की उच्चतर दशा का ही प्रावधान है। साथ ही, जैन-तंत्र विभिन्न सजीव स्पीशीज का निम्नतर से उच्चतर स्थिति की ओर क्रमिक विकास की अवधारणा का सपोषण भी नहीं करता। उसके अनुसार, विभिन्न स्पीशीज अनादिकाल से विद्यमान है।

जैनो में कर्मबल के सम्बन्ध में एक अन्य अवधारणा भी पाई जाती है। वह यह है कि यह बल प्रायः व्यक्तिनिष्ठ ही होता है। नयी खोजों से "समूह निष्ठता" की धारणा भी प्रवीजित हो गई है। इस पर गहन अध्ययन की आवश्यकता है।

इसके विपर्यास में, वैज्ञानिक केवल भौतिक बलों का ही विवरण देते हैं—गुरुत्वाकर्षण बल, विद्युत्चुम्बकीय और न्यूक्लीय बल। यदि बलों को ऊर्जा के समकक्ष माना जाय, तो जैनो ने केवल न्यूक्लीय ऊर्जा को सकेतित नहीं किया है यदि इसे आंतरिक ऊर्जा के एक रूप से भिन्न माना जावे। अन्य बलों का प्रत्यक्ष/परोक्ष सकेत जैन शास्त्रों में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, जैनो के मनोबल और कर्मबल की मान्यता से बल संबंधी उनकी मान्यता वैज्ञानिकों की तुलना में अधिक समग्र हो गई है।

#### (iv) आध्यात्मिक या नैतिक विकास का विज्ञान

सामान्यतः जैन तंत्र में जीवन का अर्थ मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाशीलता से है। यह मनोवैज्ञानिकों की द्विधा-मानसिक एवं कायिक क्रियाशीलता के विपर्यास में है। यह क्रियात्मकता प्राणियों में संहजतः विद्यमान आंतरिक ऊर्जा की अभिव्यक्ति की विविधरूपता का प्रतीक है। लेकिन यह ऊर्जा पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं हो पाती क्योंकि सासारिक जीवन में वह सदैव वीर्यान्तराय (ऊर्जा की अभिव्यक्ति में विघ्नकारी) कर्म से आवरित रहती है। यह कर्म सचित (बद्ध), प्रारब्ध (वर्तमान में प्रकट) और क्रियमाण (वर्तमान कर्म) के रूप में जीव के ऊर्जा एवं अन्य गुणों को विकसित नहीं होने देता। यह क्रियात्मकता दस या सोलह प्रकार की सहज या अर्जित सज्ञाओं (आहार आदि, कषाय आदि, ज्ञानादि) के कारण होती है जो आनुवंशिक, अन्तर्ग्रहीत आहार, हार्मोन स्राव, परिवेश एवं मनोभाव आदि भौतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से विविध कोटि की होती है। इसकी दो कोटियाँ प्रमुख हैं—शुभ और अशुभ। शुभ क्रियात्मकता स्वयं के लिये तथा समाज के लिए हितकारी होती है। अशुभ क्रियाओं की

प्रक्रिया इससे विपरीत होती है। जैनों ने इन जीव क्रियाओं को इस महत्वपूर्ण कारक (अथवा कर्मवाद) से सह-संबंधित किया जो भूतकाल से भी सहचरित रहते हैं। जीव क्रियाओं की इस विविधता एवं तीव्रता ने जैनों को इसे चतुःस्पर्शी और अदृश्य कर्मों के कारण माना है। ये कर्म और अन्य घटक मानव की प्रकृति और उसके राग, द्वेष, क्रोधादि मनोभाव, सुख, दुख आदि से संबंधित व्यवहारों और अनुभूतियों को प्रभावित करते हैं। मन को अत्यंत बलशाली व चंचल माना जाता है जो इन क्रियाओं का मूल कारण माना जाता है। धर्मतंत्र सुखवर्धक शुभ एवं पवित्र कार्यों और व्यवहारों का प्रोत्साहक है। इसलिये यह मन को नियंत्रित कर उसे शुभतर दिशाओं में प्रवृत्त करने की विधियां बताता है।

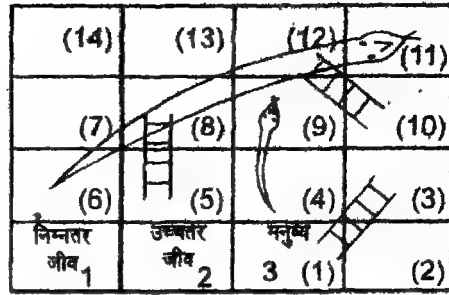
क्रियात्मकता की प्रकृति के प्रेरक मनोबल के अतिरिक्त, जैनों ने यह भी अनुभव किया कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है। मन की स्वस्थता का अर्थ है—उसका नियंत्रित रहना और स्थिर एकदिशी होना। इसलिये उन्होंने सर्वप्रथम ऐसी विधियां प्रस्तावित की जो शरीर को स्वस्थता प्रदान करे। इनमें परिवेश एवं अन्तर्ग्रहण (भौतिक एवं मनोभावात्मक आहार) के नियंत्रण प्रमुख हैं। वस्तुतः ये दोनों ही शरीर के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। इसके लिये शाकाहार के समान सात्विक भौतिक आहार, हिंसा-समाहारी खाद्यों का अनाहार, मादक पदार्थों का अनाहार, सूर्य या उज्ज्वल प्रकाश में आहार, ऊनोदरी, समय-समय पर 24-36 घंटों के उपवास आदि विधियां सुझाई गई हैं। जैन तंत्र के अनेक व्रत इनके परिपालन के लिये ही हैं। आहारशास्त्रियों ने यह तथ्य प्रकट किया है कि आहार की आदतें शरीर तंत्र के स्त्रावों को प्रभावित करती हैं और उनसे मनोभावात्मक परिवर्तन व्यक्त होता है। सात्विक आहार और उसके नियंत्रण से आंतरिक बल, अहिसक वृत्ति एवं नैतिक आचरण का संवर्धन होता है।

आहारादि के शारीरिक नियंत्रण आंशिक स्वस्थता देते हैं। पर ये ध्यान और तप (साधना)—अभ्यंतर और बाह्य—की प्रवृत्ति को प्रेरित करते हैं और मन की चंचलता को दूर करने में सहायक होते हैं। जैन-तंत्रज्ञों ने यह बताया है कि मानसिक स्थिरता/नियंत्रण, मनोभावात्मक/आवेग-सवेगात्मक शुभता या वैचारिक दशा की कोटि विभिन्न प्रकार के कर्मों के (1) उपशम या दमन (2) क्षय (3) क्षय और उपशम (4) उदय के प्रक्रमों से प्रभावित होती है। ये विधियां मानव के व्यवहार सुधार की चार मनोवैज्ञानिक

प्रक्रियाओं—(1) दमन (2) विलयन या बुरी प्रवृत्तियों का क्षय (3) उदात्तीकरण और मार्गान्तराकरण (क्षयोपशम) के समकक्ष हैं। जैन-तंत्र के उपरोक्त ईसा पूर्व सदियों के निर्देशों का वर्तमान वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं से यह साम्य वस्तुतः हमें आनंदित करता है। फलतः यह स्वाभाविक है कि स्वस्थ शरीर और मनोनियंत्रक ध्यान आदि प्रवृत्तियों से हमारे आचरण अधिक नैतिक और शुभतर या पवित्र बने। इससे हमारा आध्यात्मिक या आन्तरिक स्तर अधिक उन्नत होगा और हमारी क्रियाये शुभतर होने लगेगी।

जैन तत्र में मन को, विचारों को, बड़ा महत्त्व दिया गया है। इसीलिये उसमें सकलपी हिंसा को अशुभतम माना गया है। मानव के मनोभावात्मक स्तरों के क्रमिक शोधन की दृष्टि से आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया को एक चतुर्दशी श्रेणी (गुणस्थान) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह अज्ञान (निध्यात्व) से पूर्ण ज्ञान (केवल ज्ञान) की ओर, कर्मता से अकर्मता की ओर क्रमशः बढ़ती है। यह श्रेणी सकेत देती है कि मन के नियंत्रण के लिये दमन या उपशमन विधि बहुत अच्छी नहीं होती क्योंकि कभी कभी यह प्रतिक्रिया उत्पन्न कर मनोभावों को विकृत करती है और उसके आध्यात्मिक विकास पथ को ग्यारहवें स्तर से छठवें स्तर तक ला देती है। इसी प्रकार, यदि नियंत्रण उपायों एवं साधना की विधियों में समुचित सावधानी न बरती जावे, तो भी विकास का अवनमन नौवें स्तर से चौथे स्तर तक या सातवें स्तर से चौथे स्तर तक हो जाता है। इस अवनमन को निरस्त करने और सहज विकास पथ पर अग्रसर बने रहने के लिये मानव को बलवत्तर प्रयत्न करने होंगे। इसके विपर्यास में, हम पाते हैं कि अशुभ मनोभावों के विलयन की विधि नैतिक विकास की अधिक अच्छी विधि है। इसमें व्यक्ति सीधे ही दसवें स्तर से बारहवें स्तर पर और पाचवें से आठवें स्तर पर चला जाता है। इस श्रेणी का चौदहवां स्तर उच्चतम है जहां सभी प्रकार के कषायादिक मनोभाव (शुभ या अशुभ) शून्य हो जाते हैं, सभी आवेग और क्रियाये शांत हो जाती हैं। इस स्तर पर समस्त कर्मों, के आवरण नष्ट हो जाते हैं और मानव को जीवन की उच्चतम नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का जैन लक्ष्य प्राप्त होता है। इस स्थिति में वह अनंत आनंद का अनुभव करता है। इस स्थिति को तत्र में उच्चतम आध्यात्मिक पद-सिद्ध पद-कहा गया है। इस पद पर आने के साथ जीवन का उच्चतम लक्ष्य मिल चुका होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिक क्षेत्र में भी जेनो ने प्रारंभ से ही वे ही

सिद्धान्त और विधियाँ अनुमोदित की है जो वर्तमान वैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिकों ने उत्तरकाल में विकसित की हैं। आध्यात्मिक विकास की श्रेणी को "साप-सीढ़ी" के लोकप्रिय क्रीडा चित्र के



चित्र 2 गुणस्थान निदर्शन के लिए सापसीढ़ी

एक रूप में दिया गया है। इस क्रीडा चित्र 2 के अनेक रूप पाये जाते हैं।

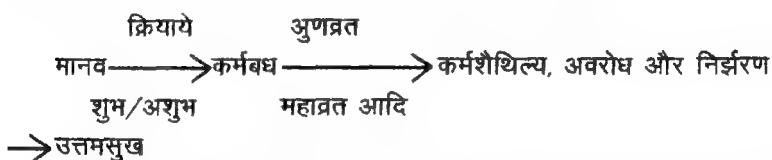
आध्यात्मिक विकास की इस श्रेणी की परिकल्पना जैनतंत्रों में लगभग नहीं पाई जाती। यह मनोवैज्ञानिक आधारों पर विकसित की गई है। यह जैनाचार्यों की तीव्र अतर्निरीक्षण शक्ति की बौद्धिक अभिव्यक्ति है। उन्होंने 'इसके विभिन्न स्तरों पर अनेक अशुभ कर्मों के विलयन को परिमाणात्मक रूप में भी दिया है। इसकी मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर पुष्टि अपेक्षित है। यह पुष्टि इस श्रेणी की अपूर्वता को ही प्रकट करेगी।

#### (v) कर्मवाद का विज्ञान

ससार में जीव-जगत की विविधता अचरजकारी है। यह अनेक दृष्टियों-इन्द्रिय, गति, सज्ञा, लिंग, पद, समृद्धि, ज्ञान, आदि अनेक अन्वेषण द्वारा (मार्गणाओं) से परिलक्षित होती है। ईश्वरवादी तंत्रों ने इसे ईश्वर-प्रेरित माना, फिर कर्मफल माना। अनीश्वरवादी जैनो ने इसे मात्र कर्मफल माना। इस प्रकार "कर्म" की धारणा प्रायः सभी भारतीय तंत्रों में है, पर जैनतंत्र में उसका विशिष्ट अर्थ और विवरण-न केवल गुणात्मक रूप से अपितु परिमाणात्मक रूप से भी उपलब्ध है। प्रारंभ में केवल अशुभ कर्मों का त्याग ही सुख का मार्ग रहा होगा। बाद में शुभ कर्म/शुभ मनोभावों को भी पुण्य मार्ग माना गया। अब कर्मवाद में दोनों प्रकार के कर्म (कुछ का परिहार, कुछ का परिपालन) समाहित होते हैं। कर्मवाद की अनेक विशेषतायें कुछ सबधित अनुच्छेदों 2-7-8 एव 4-ब-स में दी गई हैं। उनका पुनरावर्तन न कर अन्य सूचनायें यहाँ दी जा रही हैं।

जैन तंत्र में "कर्म" अदृश्य एव सूक्ष्मतम आदर्श परमाणुओं का पिण्ड माना जाता है। ये ससार में सर्वत्र व्याप्त हैं। जो कर्म-परमाणु जीव के

साथ एकक्षेत्रावगाही रूप से सबद्ध हो सके, वे "कर्म" कहलाते हैं। प्राणियों की क्रियात्मकता से ये कर्म-परमाणु जीव की ओर आकर्षित होते हैं और उससे दृढतः या अदृढतः सबद्ध हो जाते हैं। शास्त्रों में अज्ञान, प्रमाद, मनोभाव, अनियंत्रित जीवन एवं विविध क्रियाओं को कर्मों के आकर्षण का कारण बताया गया है। वस्तुतः ये कारण अशुभ कर्मों को आकर्षित करते हैं। शुभ कर्मों का घनत्व कम होता है और अशुभ कर्मों का घनत्व अधिक होता है। इन कारणों की दुर्बलता से शुभ कर्म आकर्षित होते हैं, यह मानना चाहिये। ससार के सभी प्राणी इन कर्मों के चक्र में फसे हुये हैं। यही चक्र उपरोक्त विविधताओं का मूल है। इस चक्र से छुटकारा दिलाना धर्म का लक्ष्य है। इसके लिये निम्न प्रक्रिया बताई गई है:



यह प्रक्रिया कर्मवाद की मनोवैज्ञानिकता एवं वैज्ञानिकता की स्वयमेव अभिव्यक्त करती है।

विभिन्न प्रकार के कर्म परमाणु भौतिक एवं भावात्मक क्रियाओं के कारण मूलतः 8 वर्गों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं जो ज्ञान, दर्शन, वेदना, दर्शन एवं चरित्र मोह, नाम (शरीर एवं व्यक्तित्व), गोत्र (जीवन स्तर), आयु (दीर्घजीविता) एवं विघ्नकर (अतराय) के रूप में मनुष्य की विविध प्रवृत्तियों एवं मनोवृत्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति में बाधक होते हैं। ये मूलकर्म भी उपवर्गीकृत किये गये हैं जिनके कुछ मिलाकर 148-168 भेद तक होते हैं। इनमें सर्वाधिक उपवर्ग मोहनीय (28) और नाम (93) कर्म के हैं। इससे उनकी महत्ता स्पष्ट होती है। वर्तमान में यह कर्मवाद विवरण मनोविज्ञान (ज्ञान, दर्शन, वेदना, व्यवहार, चरित्र, विश्वास, व्यक्तित्व), शरीर एवं शरीर क्रियाविज्ञान (नाम, आयु) एवं समाज विज्ञान (गोत्र, अतराय) के अंग के रूप में माना जा सकता है। युवाचार्य और मुनिश्री ने कर्मवाद की ऐसी व्याख्या पर अच्छा प्रकाश डाला है।

जैन शास्त्रों में कर्मों के भेदों और उपभेदों के उपशम, क्षय और उदय आदि के सम्बन्ध में गणितीय विवरण भी दिये गये हैं। इन्हें "लोकोत्तर गणित" के रूप में वर्णित करने की परम्परा है। वस्तुतः कर्मवाद तो

लौकिक ही है, जो कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त पर आधारित है पर इसमें लचीलापन अधिक है। यह नियतिवाद के बदले पुरुषार्थवाद पर भी बल देता है। यह मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं विधाता बनाता है और उसमें शिवत्व प्रस्फुटित करता है। इसके लिये शास्त्रीय दस कर्म-प्रक्रमों में से पांच (उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, संक्रमण और उदय) प्रक्रम महान उपयोगी हैं। ये ही मानव के पुरुषार्थ के प्रतीक हैं।

नवीनतम शोधों के अनुसार मानव जीवन की विविधता मात्र कर्म-मूलक नहीं है। इसमें अन्य अनेक कारक भी सहयोगी बनते हैं। कर्म की मात्र व्यक्तिनिष्ठता को अशत समूहनिष्ठता से भी सहचरित मानने की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इससे अनेक जटिल समस्याओं के समाधान में सरलता हुई है। साथ ही, ज्ञान-दर्शनादि के क्षेत्र में अपार वैज्ञानिक प्रगति के कारण इस सदी में सामान्यतः कर्मों का सामूहिक क्षयोपशम उन्नत हुआ है।

#### 4. जैन-तंत्र का इतिहास : (अ) राजकीय संरक्षण

संख्यात्मक दृष्टि से जैन तंत्र भारत एवं विश्व का एक अल्पसंख्यक तंत्र है (1-0.1 प्रतिशत)। फिर भी, यह विश्व के विभिन्न भागों में व्यापक रूप से प्रसारित हुआ है। इसके प्रसार में व्यापारियों, साधुओं, राजवंशों ने महत्वपूर्ण योगदान किया है और धर्मान्तरण की मनोवृत्ति का आश्रय लिये बिना ही इसे लोकप्रिय बनाया है। इसे लगभग महावीरोत्तरकालीन 1800 वर्षों तक भारत के विभिन्न क्षेत्रों एवं कालों में राजकीय एवं राजनीतिक संरक्षण मिला जिससे इसने बहु-आयामी विस्तार पाया और यह दीर्घजीवी बना। यद्यपि जैन सिद्धान्तों में बिश्व स्तर पर लागू होने की क्षमता है, फिर भी इस तंत्र में अन्य धर्मों की तुलना में जनमानस को क्यों आकर्षित नहीं किया, यह विद्वानों के लिये महान अनुसंधान का विषय है।

जैन-तंत्र के इतिहास को सुव्यवस्थित रूप से जानने के लिये उसे कम से कम तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विचारित करना चाहिए—(1) राजकीय संरक्षण (2) साहित्यिक सर्वेक्षण और (3) सामाजिक सर्वेक्षण। इनके आधार पर ही संक्षेप में जैनतंत्र के इतिहास का वर्णन किया जायेगा।

महावीर इस दृष्टि से बड़े भाग्यशाली थे कि वे समसामयिक राजवंशों

एवं गणों से निकटतः सम्बन्धित थे। प्रायः इन सभी ने और उनके उत्तराधिकारियों ने पूर्वी भारत में जैनतंत्र की बड़ी प्रभावना की और उसे लोकप्रिय बनाया। यही कारण है कि उन दिनों महावीर के लगभग साढ़े तीन लाख अनुयायी थे। महावीर की निकट और दूरवर्ती शिष्य परम्परा के अनेक आचार्यों के भी उत्तर, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण (यहां तक कि श्री लंका) के अनेक समसामयिक राजतंत्रों के संबन्ध रहे हैं। उत्तर भारत के जैन-धर्म सवर्धक कुछ राजा और राजवंशों में श्रेणिक बिंबसार, अजातशत्रु, नन्दवंश, चन्द्रगुप्त मौर्य, सप्रति, मित्रवंश, गुप्त-राजवंश, हर्षवर्धन, आमराज, यशोवर्मन, प्रतिहार एवं चन्देलवंश, मुगल राजवंश, अकबर और अन्य राजा प्रमुख हैं जिन्होंने जैन संस्कृति, कला और स्थापत्य को समुन्नत बनाया। जैनो की लोकप्रियता के लिये अशोक, गुप्तवंश आदि के काल कष्टकर भी रहे जब उन्हें मगध छोड़कर अन्य क्षेत्रों में जाना पड़ा। इन्होंने अपना मगध निष्क्रमण ऐसे दो मार्गों से किया जिसके कारण जैन-तंत्र को आने वाले समय में भारत में चारों ओर फैलने के अवसर मिले। इनका पहला मार्ग कलिंग (उड़ीसा) होकर दक्षिण की ओर जाता था। दूसरा मार्ग मथुरा, उज्जैन और गुजरात के माध्यम से दक्षिण के दूसरे भाग को पहुंचाता है। दोनों ही मार्गों से दक्षिण में जैन-तंत्र पहुंचा। इसीलिये यह सदियों तक जैनधर्म का सुरक्षित एवं सरक्षित गढ़ बना रहा। इन दोनों ही मार्गों से पार होते समय इन क्षेत्रों के सामान्यजनों ने इन्हें सहयोग और प्रेरणा अवश्य दी होगी।

ईसापूर्व दूसरी सदी के बगाल और कलिंग के राजवंशों ने जैनो को अच्छा सरक्षण दिया। इसी के फलस्वरूप खारवेल के समय कुमारी पर्वत पर लगभग 180 ई० पू० में जैन-साधु-सम्मेलन (बाचना) हुआ था। इसे दिगंबर बाचना कहा जा सकता है, पर इसका विवरण उपलब्ध नहीं है। यह सरक्षण, यद्यपि, अधिक समय तक नहीं रहा, फिर भी, इसका प्रभाव दीर्घकाल तक बना रहा। आज भी इन क्षेत्रों में जैन मूर्तियों एवं स्थापत्य के अवशेष इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। यहां की सराक जाति इस संस्कृति की जीवत प्रतीक है।

ईसापूर्व कुछ सदियों से लेकर पाचवी-छठी सदी तक मथुरा, उज्जैन और बलभी (गुजरात) के क्षेत्र जैनतंत्र के प्रभावशाली सरक्षक रहे। इस क्षेत्र में स्थापत्य का अच्छा विकास हुआ। आचार्य शीलगुण सूरि



जी ने नवमी सदी में गुजरात राज्य की स्थापना में योगदान किया। बाद में, बनराज, जयसिंह, और कुमारपाल आदि राजाओं ने पश्चिम में जैन धर्म को राजधर्म-जैसा ही रूप दे दिया। इस क्षेत्र में आज भी जैनतत्र की सुगंधि का अनुभव किया जा सकता है।

दक्षिण भारत के विभिन्न भाग लगभग एक हजार वर्ष तक दिगम्बर सम्प्रदाय के गढ़ रहे। भद्रबाहु और मौर्यराज ने अपनी दीर्घ यात्रा के दौरान जैन-तत्र के बीज बोये थे। इससे पूर्व पार्श्व के अनुयायी भी इस क्षेत्र में लका तक जा पहुँचे थे। इस साधु सघ से जैनतत्र न केवल लोकप्रिय हुआ, अपितु इससे अनेक राजवंश भी प्रभावित हुये। दिगंबर साधु सिंहनंदि ने कर्नाटक में गगवश की स्थापना में सहयोग दिया और मुनि सुदत्त ने होयसल वंश की स्थापना में योग दिया। ये दोनों ही राजवंश जैनतत्र के प्रभावशाली संरक्षक रहे। बाद में, विजयनगर के राजवंशों ने भी चौदहवीं सदी तक अपने क्षेत्र में जैनतत्र को संरक्षण एवं प्रभावना दी। आंध्र के राष्ट्रकूट वंश का युग तो दक्षिण में जैनतत्र की साहित्य सर्जना एवं प्रभावना का स्वर्णकाल माना जाता है। अमोघवर्ष के शासनकाल में गुफा मंदिर की कला भी विकसित हुई। इस वंश का शासन चौदहवीं सदी तक प्रायः चार-पाँच सौ वर्षों तक रहा। इस काल में जैन उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त होते थे। श्रवणबेलगोला की बाहुबलि मूर्ति निर्माता चामुंडराय ऐसे ही प्रसिद्ध जैनधर्म प्रभावकों में से एक हैं। ये राजा और राजवंश जैन मंदिरों, मठों एवं मुनिसंघ यात्राओं में सभी प्रकार की सहायता करते थे। यह कहा जाता है कि मध्यकाल के पूर्व दक्षिणी क्षेत्रों में एक तिहाई जनता जैनतत्र की अनुयायी थी।

भारत के इतिहास के मध्य और उत्तरकाल में अनेक राजवंश ऐसे हुए हैं जो जैन-तत्र से सहानुभूति नहीं रखते थे। इनके कारण न केवल दक्षिण में ही प्रायः बारहवीं सदी के बाद राजकीय संरक्षण मिलना बन्द हो गया, अपितु उत्तर भारत में भी पर्याप्त अंश में यही स्थिति निर्मित हुई। इसके बावजूद भी, जैनो ने अपनी अहिंसक व्यवहार और व्यापार कुशलता से अपने को परिसंस्थित बनाये रखा। तथापि, बदलते परिवेश के कारण जैनो की जनसंख्या कम हुई और इसके सांस्कृतिक क्रियाकलापों के विस्तार को भी आघात लगा। भारत प्रशासन के मुस्लिम और मुगल काल में भी, कुछ अपवादों के साथ, यही स्थिति रही। इस स्थिति में भी जैन अपना प्रभाव

अस्तित्व रख सके। इसी युग में उत्तरमध्य काल में जैनो में मूर्तिपूजक के बदले शास्त्रपूजक पंथों का उदय हुआ। इनमें श्वेताम्बर शास्त्रपूजक तो पर्याप्त संख्या में आज भी अपना अस्तित्व बनाये हुये है। इसके विपर्यास में, दिगम्बरो में शास्त्र-पूजको की संख्या आज भी स्वल्प है। इसी बीच दिगंबरों में मुनि प्रथा हास में आ गई और भट्टारक प्रथा चल पड़ी। राजस्थान और अन्य क्षेत्रों में भट्टारको को राजवशी संरक्षण मिला और असंख्य मूर्तियां प्रतिष्ठित की गईं। ये भट्टारक प्रायः यथास्थितिवादी रहे और उन्होंने शास्त्र रचे, अनुवाद किया और इनकी सुरक्षा के लिये भट्टार बनाये। श्वेताम्बर पंथ में भी नवजीवन आया और मुस्लिम आक्रमणों के भय से तथा अहिंसक जीवन के प्रति रुझान से अनेक क्षत्रियो ने जैन धर्म अंगीकार किया। यह राजस्थानी जैनो के गोत्रों से पता चलता है। यही नहीं, मुनि हीरविजय जी के समान अनेक दिगंबर और श्वेताम्बर साधुओं की चर्चा और प्रभाव से आकृष्ट होकर अकबर के समान राजाओं ने अहिंसा धर्म की प्रभावना में योगदान किया। पर ऐसी घटनायें अपवाद रूप में ही लेनी चाहिये। मुस्लिम काल में मूर्तिभजको के आतंक के समान अनेक विषम परिस्थितियों में भी जैन व्यक्तिनिष्ठ बने रहे और अपने को सुरक्षित बनाये रहे।

ब्रिटिश शासनकाल में सभी संप्रदायों के प्रति व्यापक उदारता की भावना एवं धार्मिक स्वतंत्रता की प्रवृत्ति ने जैन तंत्र को सुरक्षित बने रहने में तो योग दिया पर उसका विशेष संवर्धन नहीं हो सका। भारत के स्वतंत्र होने पर संप्रदाय-निरपेक्षता की नीति अपनाई गई। इससे जैन धर्म भी लाभान्वित हुआ। भारत शासन ने जैनो के अनेक राष्ट्रीय महत्त्व के पंचकल्याणको, महाभिषेक महोत्सवों के आयोजन में सक्रिय रूप से सहायक होकर न केवल जैन शासन की गरिमा ही बढ़ाई, अपितु जैनतंत्र की सजीवता को भी जागृत कर दिया। बाहुबली अभिषेक महोत्सव का दूरदर्शन पर अखिल भारतीय प्रसारण इसका एक उदाहरण है। इससे इस काल में जैन अधिक जागरूक हुए हैं। उन्होंने भारतेतर-भाषाओं में नवसाहित्य का प्रणयन एवं प्राचीन साहित्य का अनुवादन किया है। इससे जैनो में जैनतंत्र के विश्वस्तरीय प्रसार की मनोवृत्ति विकसित हुई है। जैनो ने अनेक प्रकार की शैक्षणिक संस्थाएँ, शोध संस्थाएँ और अब तो विश्वविद्यालय भी खोले हैं जो जैन संस्कृति के राजदूत प्रमाणित हो रहे हैं; उन्होंने राष्ट्रीय और

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाये हैं जो जैनतंत्र के प्रसार की दिशा में कार्य ही न करें, अपितु नयी पीढ़ी को मार्गदर्शन भी दें। यह इसी सदी के आठवें दशक की बात है कि महावीर की पच्चीससौवीं निर्वाणशती पर शासन के सहयोग से हमारे देश में जैनतंत्र की प्रभावना का वातावरण बना, जैन विद्याओं पर स्थान-स्थान पर सगोष्ठियां हुईं और अनेक स्थानों पर जैन विद्या एवं प्राकृत के पाठ्यक्रम चालू हुये। यह परम्परा अब भी चल रही है। जैनतंत्र के अध्येताओं एवं अनुसंधाताओं की संख्या देश-विदेशों में निरंतर बढ़ रही है।

भारतेतर देशों में संप्रदाय-निरपेक्षता के वातावरण ने परोक्षरूप से व्यापार, शिक्षा एवं व्यवसाय के लिये गये जैनों ने जैनतंत्र के व्यापकीकरण प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया है। वहां मंदिर बने हैं, जैन केन्द्र और पुस्तकालय खुले हैं। जैन विद्या के स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चालू हुए हैं। इससे पाचो महाद्वीपों में जैनेतरो की जैनतंत्र में रुचि निरंतर बढ़ रही है। इस प्रकार अब यह तंत्र प्रत्यक्ष राजकीय संरक्षण के बिना भी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित हो रहा है।

### जैन तंत्र का इतिहास : (ब) साहित्यिक इतिहास

जैन तंत्र के प्रसार में प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक साधु-संतों एवं विद्वानों ने अधिक महत्वपूर्ण योगदान किया है। फिर भी, इस तथ्य से इकार नहीं किया जा सकता कि राजकीय संरक्षण एवं सहयोग ने विविध प्रकार के साहित्य निर्माण की गति को उत्प्रेरित किया है। यह माना जाता है कि प्रथम सदी के आचार्य आर्यरक्षित ने विभिन्न प्रकार के जैन साहित्य को चार वर्गों में (अनुयोगो) में विभाजित किया :

- (1) **प्रथमानुयोग** : त्रैसठ शलाका पुरुषो एवं अन्य महापुरुषों की जीवनी, धार्मिक पौराणिक कथाएँ, वर्णनात्मक साहित्य, कथा साहित्य, ललित साहित्य,
- (2) **करणानुयोग** : तकनीकी साहित्य, लाक्षणिक साहित्य, अ-ललित साहित्य,
- (3) **चरणानुयोग** : नैतिक एवं चारित्र सम्बन्धी उपदेश और साहित्य
- (4) **ब्रह्मानुयोग** : तत्त्वविद्या, प्रमाणविद्या और दर्शन

कुछ ग्रन्थों में इन अनुयोगों के नाम भिन्न भी दिये हैं। अनेक जैन

स्थविरो, साधुओं, विद्वानों, भट्टारको एवं गृहस्थों-सभी ने इस विविधा-भरे साहित्य के सृजन में अपने-अपने युगों में महत्वपूर्ण योगदान किया है। वस्तुतः जैन साहित्य जैनो का ही नहीं, अपितु समग्र भारत का एक अनुपम कोषागार है। इस साहित्य का मूल उद्देश्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जैनतत्र की नैतिक शिक्षाओं का सम्प्रसारण है। इसीलिये विषय कुछ भी हो, उस पर जैनतत्र की मोहर अवश्य लगी दिखेगी।

जैन साहित्य का निर्माण दो चरणों में हुआ है—(1) पहली सदी के विषय-विभाजन के पूर्वकाल में और (2) उत्तर-अनुयोग काल में। ये दोनों ही साहित्य गुणात्मकता एवं सख्यात्मकता की दृष्टि से विशाल हैं। इसका काफी कुछ अंश ऐसे साधुओं और भट्टारकों ने लिखा है जिन्हें धर्म और समाज-दोनों को मार्गदर्शन देना पड़ता था। इस साहित्य की विशालता राजस्थान आदि क्षेत्रों के संरक्षित ग्रन्थ भण्डारों में उपलब्ध लाखों पांडुलिपियों के अस्तित्व से ज्ञात होती है। यह साहित्य तत्कालीन भाषाओं में लिखा गया है जिससे वह सहज बोधगम्य हो और महावीर के जनभाषी उपदेशों की धारा के अनुरूप हो।

अनुयोग विभाजन के आधार पर यह पाया गया है कि प्रथम और तृतीय कोटि का साहित्य सर्वाधिक मात्रा में है। वस्तुतः सभी प्राचीन आगम साहित्य अनुयोग-विभाजन का पूर्वकालीन है। अतः उनकी कोटि प्रथम और तृतीय अनुयोगों का मिश्रित रूप व्यक्त करती है। यह आगम द्वादशांगी कहलाता है जिसमें चौदह पूर्व भी समाहित हो गये हैं। तथापि, पूर्वों के नाम के आधार पर उनका अनुयोग अनुमानित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, महावीर के उत्तरवर्ती गणधरो एवं स्थविरो ने जो साहित्य रचा है, उसमें भद्रवाहु का नाम प्रमुख है। इनके समय में ही जैन सघ के वर्तमान दो प्रमुख घटकों का प्रवीजन हुआ था। इन्होंने प्रायः चरणानुयोग पर ही ग्रन्थ और टीकाएँ लिखी हैं। आचार्य गुणधर, पुष्पदन्त, भूतबन्ति, कुद-कुद, समतभद्र, उमास्वामी (ति), बट्टकेर, शिवार्य, स्वामी कार्तिकेय, अमृतचन्द्र, आशाधर, और अन्य दिगंबर साधुओं ने चरणानुयोग की कोटि का साहित्य लिखा है। शय्यभवं, श्याम आर्य, जिनभद्र, जिनदास, सच्चदास, हरिभद्र, शीलाक, अभयदेव, हेमचन्द्र, यशोविजय गणि तथा अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने भी इस कोटि का ही पल्लवन किया है, यद्यपि इनमें अनेकों ने अन्य कोटि का साहित्य भी लिखा है। इन आचार्यों का रचनाकाल ईसापूर्व

सदियों से लेकर पूर्व-मध्यकालीन ईसोत्तर सदियों के बीच आता है।

आगम और आगमकल्प ग्रन्थों में चरणानुयोग के साथ प्रथमानुयोग सबधी कथा साहित्य भी है। इसके साथ गुणादय, विमल सूरि, हरिभद्र, संघदासगणि, स्वयंभू, उद्योतनसूरि, जिनसेन, गुणभद्र, पंप, पोन्न, रन्न, रत्नाकर, पुष्पदत्त, वीरनदि, हरिषेण, मल्लिषेण, वादीभसिह, हेमचन्द्र, मेघविजय आदि आचार्यों ने अनेक जैन महाकाव्यों, चपुओं, जीवनीयों, पौराणिक एवं धार्मिक कथाओं को ललित रूप में प्रस्तुत किया है। इनके साहित्य में जैन संघ के 63-148 शलाका पुरुषों का मनोरम चरित्र पाया जाता है जिसका उद्देश्य श्रावकों के नैतिक उत्थान को प्रेरित करना है। यह प्रथमानुयोगी साहित्य भी पर्याप्त विशाल है।

इस साहित्य में ललित साहित्य के वे अंग भी आते हैं जिनसे साहित्य का लालित्य प्रस्फुटित होता है। इन अंगों में व्याकरण, छंदशास्त्र, रसशास्त्र, एवं शब्दकोष की शाखाएँ आती हैं। इन क्षेत्रों में पूज्यपाद, शाकटायन, कातंत्र, हेमचन्द्र, बुद्धिसागर, बाग्भट, धनजय, धरसेन और अन्य अनेक आचार्यों ने अनुपम योगदान किया है।

इस साहित्य के अन्तर्गत एक विशेष प्रकार का विविधापूर्ण साहित्य भी समाहित होता है जिसमें स्तोत्र, पूजा, विधि-विधान आदि आते हैं। भद्रबाहु, मानतुंग, बादिराज, बसुनदि के समान अनेक आचार्यों ने अपनी रचनाओं के द्वारा न केवल विभिन्न युगों में अचरजकारी धार्मिक प्रभावना की है, अपितु छंदशास्त्र को भी आकर्षक एवं समृद्ध बनाया है। ये सभी रचनाएँ भक्तिवाद की प्रेरक हैं।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि उपरोक्त अनेक आचार्यों को उनके साधु-जीवन एवं साहित्य-शिल्प की उत्तमता के कारण विभिन्न युगों में राज्याश्रय भी प्राप्त रहा है। इससे वे जैन तंत्र की सार्वजनिक प्रभावना में अपना महनीय योगदान कर सके। इनमें से अनेक आचार्यों ने प्राकृत, संस्कृत के अतिरिक्त कन्नड, तमिल, तेलगू, गुजराती, हिन्दी आदि क्षेत्रीय भाषाओं में भी अच्छा साहित्य लिखा है। इनकी नामावली, विस्तार भय से यहाँ नहीं दी जा रही है। फिर भी, यह जान लेना चाहिये कि जैनो के द्वारा निर्मित साहित्य दक्षिण भारतीय भाषाओं का मूलधार रहा है। प्रथमानुयोग सबधी विशाल जैन साहित्य की ओर पश्चिमी विचारकों का भी ध्यान गया

है जिन्होंने इसकी गुणवत्ता और वर्णन विधा की उत्तमता की मुक्तकठ से सराहना की है। इस कोटि के साहित्य ने सामान्य जनो को जैनधर्म से प्रभावित होने में तथा जैनो की धार्मिकता को अभ्युन्नत रखने में बड़ी सहायता की है।

करणानुयोग की कोटि के साहित्य के क्षेत्र में जैनो का नाम सु-ज्ञात है। इस साहित्य के मूल बीज तो प्राचीन आगम एवं आगमकल्प ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं लेकिन उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने विशिष्ट विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें ज्योतिष (पादलिप्त सूरी 100 ई०), भूगोल (उमास्वामी, 300 ई०), पद्यनदी, (1000 ई०), यतिवृषभ (500 ई०), गणित (यतिवृषभ, महावीराचार्य, 800 ई०), चिकित्सा (पूज्यपाद, 500 ई०, उग्रादित्य 800 ई०) शकुन विज्ञान (नरपति 800 ई०), स्वप्न विज्ञान (मलयप्रभ, 1200 ई०), मन्त्र शास्त्र, (मुनि देव सूरि, 1300 ई०), संगीत (मडन मन्त्री, 1300 ई०, पार्श्वचन्द्र 1400 ई०), कर्मवाद (हितशर्मा, 200 ई०, चन्द्रर्षि, 500 ई०, नेमिचन्द्र चक्रवर्ती, 1000 ई०, देवेन्द्र सूरी माधवचन्द्र, त्रैविद्य एवं यशोविजय गणि 1800 ई०), मणिशास्त्र (ठक्कुर फेरू, 1315 ई०), हस्तरेखा विज्ञान और अन्य तकनीकी एवं कला विषयों के ग्रन्थ समाहित होते हैं। इस साहित्य का समुचित अन्वेषण और अध्ययन आज के वैज्ञानिक युग में पर्याप्त वाछनीय है।

द्रव्यानुयोग की चतुर्थ कोटि में तत्त्वविद्या, प्रमाणशास्त्र, दर्शन एवं अन्य संबन्धित विषय आते हैं। इसके अन्तर्गत अच्छा साहित्य उपलब्ध है। यह बुद्धिवादी कोटि का साहित्य है। यह जैन तंत्र के सिद्धान्तों को तार्किक समर्थन देता है। कुद-कुद, समतभद्र, अकलंक, विद्यानद, सिद्धसेन दिवाकर, प्रभाचद्र, मल्लवादी, हरिभद्र, हेमचन्द्र, यशोविजयगणि आदि आचार्यों ने जैन तत्त्व विद्या और न्यायविद्या को प्रतिष्ठित किया है। इस कोटि के अनेक प्राथमिक ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद भी हुए हैं और प्रगत ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद की योजना चलाई जा रही है।

जैन साहित्य के विकास के इतिहास में योगदान करने वाले जैन विद्वान् मनीषियों के साहित्य का सर्वेक्षण करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि अपने साहित्य में उन्होंने असाप्रदायिक एवं तर्कपुष्ट विचारधारा प्रस्तुत की है। हां, धार्मिक साहित्य में उन्होंने अवश्य जैन आचार-विचार विद्या को बुद्धिवाद एवं अनुभव के आधार पर संपुष्ट किया है। इस साहित्य की

विविधा से जैनाचार्यों की साहित्यिक प्रतिभा तथा तौक्षण निरीक्षण एवं विचार क्षमता का अनुमान होता है। जैनों की यह प्रतिभा पूर्वाग्रह-विहीन, सहिष्णुता-संवर्धक एवं शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की मानसिकता से ओतप्रोत है। इसने बुद्धिवादी जगत को गरिमामय रीति से प्रभावित किया है। यही कारण है कि भारतविद्या का सम्पूर्ण अध्ययन जैन साहित्य के अध्ययन के बिना संभव नहीं माना जाता।

यहां यह भी बता देना चाहिये कि जैन साहित्य के निर्माण में न केवल प्राचीन काल के साधुओं ने ही भाग लिया है, अपि तु इसमें उत्तरवर्ती काल में अनेक गृहस्थ श्रावकों ने भी महत्वपूर्ण योगदान किया है। इस दृष्टि से ५० टोडरमल, बनारसीदास, राजमल, और आजकल के अनेक विद्वान् एवं शोधकर्ता बहुतेरा साहित्य निर्मित कर रहे हैं। यही नहीं, अनेक पूर्वी और पश्चिमी जैनोत्तर विद्वानों ने भी अपने साहित्य के माध्यम से जैनतंत्र को प्रतिष्ठित एवं प्रसारित करने तथा उसकी प्रभाविता बढ़ाने में बड़ा योगदान दिया है। इनकी सख्या निरंतर बढ़ रही है।

### जैन तंत्र का इतिहास : (स) सामाजिक इतिहास

भगवान महावीर के समय जैनों का समग्र संघ एक ही था। यह स्थिति पर्याप्त समय तक बनी रही। फिर भी, उनके दो भाग तो थे—(१) साधु-साध्वी और (२) श्रावक-श्राविका। हिन्दू समाज के अनेक वर्गों ने जैन मत अंगीकार किया और उत्तरवर्ती काल में भी उसकी अनेक जातियों ने अहिंसक जीवन स्वीकार किया। महावीर के उत्तरकाल में जब संघ के सदस्यों की संख्या पर्याप्त हो गई, तब उसकी समुचित व्यवस्था एवं एकरूपता बनाये रखने के लिए सर्वप्रथम संघ और उसके अनुयायी अनेक गणों में विभाजित हुये। बाद में अर्हद्वलि के युग में साधु-संघ अनेक उपसंघों में विभाजित हुआ। यदि महावीरकालीन जैन साधु-संघ को मूलसंघ माना जावे, तो उससे ही नदिसंघ, यापनीय संघ, द्रविड संघ, काष्ठा संघ, सिंह संघ, सेन संघ एवं देवसंघ आदि विकसित हुये। इन संघों के अन्तर्गत अनेक गण भी विकसित हुये। इनमें देशीयगण, बलात्कारगण, काणूर गण, सूरस्थगण आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से अनेक गण दक्षिण भारत में ही स्थापित हुए हैं। इनका उल्लेख आचार्य परम्परा के विवरणों में भी किया जाने लगा। साधुओं के ये गण और उपसंघ विभिन्न आचार्यों के संरक्षण में

थे और उनकी विभिन्न व्यवस्था के बावजूद भी वे जैन तत्र के मूल सिद्धांतों के अनुपालन एवं परिरक्षण में संघबद्ध थे। प्रत्येक संघ और उपसंघ जैनतत्र को जीवतता देने के उपक्रम में लगा रहा।

साधुओं के संघ विभाजन का प्रभाव श्रावकों पर भी पड़ा। महावीर के उत्तरकाल में जैन धर्म भारत के काने-कोने में प्रतिष्ठित हो रहा था। इसमें अनेक जातीय एवं मान्यता के लोग समाहित हो रहे थे। जैनों के जन्मजातित्व के विरोधी सिद्धान्त के अनुसार उनमें जाति या वर्ण-व्यवस्था तो संभव नहीं थी, फिर भी जैनतत्र के अनुयायी समाज को एकसूत्रता में बनाये रखने के लिये साधु संघों के समान समाज में जाति प्रथा धीरे-धीरे विकसित होने लगी। जाति शब्द का अर्थ ऐसे समूह विशेष से है जो समान आचार, विचार, एवं संभव हो सकें तो, व्यवसाय भी पालता हो। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अनेक ऐसे लघु समूह विकसित हुये। इनके नाम क्षेत्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण व्यक्तियों, स्थानों, घटनाओं, देवताओं, व्यवसायों तथा प्राकृतिक परिवेशों पर आधारित थे। अहिंसक वृत्ति होने के कारण इनका व्यवसाय वैश्य वृत्ति ही बन गया चाहे जैनतत्र अपनाने के पूर्व वे किसी भी जाति या व्यवसाय को क्यों न मानते रहे हों। विदेशी आक्रान्ताओं और मूर्तिभजकों के युग में तो क्षत्रिय भी युद्धों से, मारकाट से त्रस्त हो गये थे। जैन साधुओं के अहिंसक उपदेशों ने उन्हें भी प्रभावित किया और वे अहिंसक वैश्य बनकर समाज का अनेक क्षेत्रों-प्रशासन, राजकाज-व्यवसाय आदि-में नेतृत्व करने लगे। कुछ लोगों का मत है कि जाति स्थापना से श्रेष्ठ-हीनभाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसके नियंत्रण के लिये जाति मद को दूषण माना गया।

जैनों में उपरोक्त अर्थों के अनुसार, विभिन्न जातियाँ कब से अस्तित्व में आईं, यह शोधकर्ताओं में विवाद का विषय है। कुछ लोग इन्हें महावीरकालीन ही मानते हैं और उनकी उत्तरकालीन परम्परा के आचार्यों की जातियों का भी उल्लेख करते हैं। यह अवश्य है कि जैन जातियों के विकास में अनेक परिवेशी हिन्दुओं की प्रथा का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सामान्यतः जैनो की मूल जाति, हिन्दुओं के विपर्यास में, केवल एक ही बनी—वैश्य। तथापि, उसके सदस्य हिन्दुओं की जातियों के अन्य वर्गों की सेवाओं से लाभान्वित होते रहे। प्राचीन जैन ग्रन्थों में जैनो की जातियों का



**सारणी 1 : कुछ जैन जातियों का विवरण**

जाति	उत्पत्ति स्थान	समय	आचार्य	गोत्र
1 ओसवाल	ओसिया, जोधपुर	457 ई०पू०, 165 ई	रत्नप्रभसूरि	1444
2 श्रीमाल	भीनमाल, जालोर	7-8 वीं सदी	"	-
3 पोरवाल,	भीनमाल पूर्वीभाग	8 वीं सदी	-	-
प्राग्वाट	पुरा मेवाड़			
4 पल्लीवाल	पाली, राजस्थान, पल्ली, दक्षिण भारत	"	रत्नप्रभसूरि	-
5 खण्डेलवाल	खंडेला, सीकर	1 सदी, 8 वीं सदी	जिनसेन	84
6 बघेरवाल	बघेरा, टोक	8 वीं सदी	रामसेन	52
7 अग्रवाल	अग्रोहा, (हरियाणा)	1 सदी 8 वीं सदी	अग्रसेन, लोहाचार्य	18
8 नरसिंहपुरा	नरसिंहपुर, मेवाड़	-	-	27
9 जैसवाल	जैसलमेर	-	-	36
10-11 चित्तौड़ा/ नागदा	चित्तौड़/नागदा	आठवीं सदी	-	-
12 हुम्बड़	डूंगरपुर, राज०	"	-	18
13 परवार	मेवाड़/गुजरात	1 सदी, 6 सदी	-	12
14 गोलापूर्व	गोलाकोट	-	-	-
15 गोलालारे	ग्वालियर	-	-	-
16 पद्यावती पुरवाल पद्यावती		दसवीं सदी से पूर्व		

उल्लेख नहीं पाया जाता। फलतः इनका विकास उत्तरकालीन ही मानना चाहिये।

जैनो की मूल वैश्य जाति समय के साथ अनेक उपजातियों में विभाजित होती रही। कहते हैं कि ये विभाजन सबद्ध तत्रों की सजीवता को व्यक्त करते हैं। भारत के विभिन्न भागों में समान विचारधारा के जैन अनुयायियों ने अपनी-अपनी जातियों का निर्माण किया। सामान्यतः यह

कहा जाता है कि जातियों के निर्माण से समाज की सामूहिक सामाजिकता में कमी आती है। यह तथ्य अशत ही सही माना जा सकता है। आज जैन समाज की जो सार्वत्रिक प्रभावकता है, वह इस मान्यता को समर्थन नहीं देती। प्रत्येक धार्मिक या सैद्धान्तिक महत्व के प्रकरणों में उपजातिवाद ने सदैव सामूहिक एकसूत्रता दिखाई है। कुछ समय पूर्व उपजातियों में अनेक प्रकार की सामाजिक अनुदारताओं के लक्षण पाये जाते थे, पर समय के साथ अब उदारता के अनेक लक्षण प्रकट होने लगे हैं।

जैन का कथन है कि जैन उपजातियों का सूत्रपात कभी भी हुआ हो, पर उनका विकसित रूप छठवीं-सातवीं सदी के बाद ही दृष्टिगोचर होता है। इसके बाद, इसके अनेक ऐतिहासिक साक्ष्य भी मिलने लगते हैं। यह भी माना जाता है कि अनेक जैन जातियों का विकास राजस्थान क्षेत्र में ही हुआ है जैसा सारणी 1 से प्रकट है। वर्तमान में जैनो में चौरासी जातियाँ मानी जाती हैं। ऐसा माना जाता है कि किसी समय पद्यावती नगर के श्रेष्ठी ने वैश्य मृहासभा के सगठन के लिये जैन समाज के सदस्यों को बुलाया। उसमें प्रारंभ में 84 स्थानों के सदस्य आये। प्रत्येक स्थान के सदस्यों को एक जातिका मानकर 84 जातियों की स्थापना की गयी। बाद में इसमें अनेक जातियाँ और जुड़ गईं। कासलीवाल और सागवे आदि ने 84 की संख्या को प्रतीकात्मक माना है। वस्तुतः यह संख्या काफी अधिक (237 तक) है। इनमें से अनेक जातियाँ कालप्रवाह में विलीन हो गई हैं। फलतः आज यह संख्या 84 से भी काफी कम होगी, ऐसा अनुमान है। दिगंबर जैनो की जातियों का विवरण 15-18 वीं सदी के बीच ब्रह्म, जिनदत्त, जिनदास, विनोदीलाल, ब्रम्हगुलाल और वखतराम शाह ने दिया है। इन विवरणों में पर्याप्त विविधता होते हुये भी 84 की संख्या की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है।

जैन जातियों के ऐतिहासिक सर्वेक्षणों से पता चलता है कि वर्तमान की अधिकांश जैन जातियाँ क्षत्रिय मूल की रही होंगी जिन्होंने महावीर के द्वारा उपदिष्ट अहिंसक जीवन अपनाया। इनके जैनीकरण में साधुओं एवं भट्टारकों के प्रभावी उपदेश एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ भी कारण बनी हैं। वर्तमान में एक-दो प्रकरणों को छोड़कर नयी जातियों का निर्माण प्रायः

अवरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि कुछ जैन जातियों के लोग दिगंबर और श्वेतांबर दोनों पथों में पाये जाते हैं (ओसवाल, श्रीमाल, पल्लीवाल, पोरवाल, आदि)। यही नहीं, खण्डेलवाल और अग्रवाल के समान जातियाँ हिन्दू धर्मानुयायी भी होती हैं। संभवतः इसका कारण आचार्यों के उपदेश रहे होंगे। इनके अनेक गोत्र भी समरूप होते हैं। जैनों की अनेक जातियों में समान गोत्र भी पाये जाते हैं (परवार, गोलापूर्व, गोलालारे, आदि)। कुछ जैन जातियों में ब्राह्मणों के समान पाण्डेय आदि गोत्र भी पाये जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि विभिन्न समयों में ब्राह्मण वर्ग के लोग भी जैन बने होंगे। स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी में एक जैन छात्र "जैन ब्राह्मण" जाति का था। इन सूचनाओं से यह स्पष्ट है कि जैन जातिवाद उदार रहा है। सभी वर्गों के लोग इसमें सम्मिलित हो सकते थे। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि जाति प्रथा का संबंध सामाजिक व्यवस्था से है। इसमें धार्मिक मान्यताओं की स्वतंत्रता है।

प्रत्येक जाति अनेक मूलों या गोत्रों में विभाजित है जिसके आधार प्रायः पूर्वोक्त ही हैं। इनके आधार पर भी उनके बीच रोटी-बेटी संबंध होते हैं। प्रारम्भ में सजातीय सम्बन्धों के कारण कुछ अनुदारता थी, पर समय के साथ इस प्रवृत्ति में किंचित् उदारता आने लगी है। इनमें कुछ जातियों के सदस्यों की संख्या लाखों में है, तो कुछ की सैकड़ों में ही है। दक्षिण की पचम जाति, ओसवाल, खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार एवं श्रीमालों की संख्या पर्याप्त है। आजकल इन्हीं के हाथों जैनों का नेतृत्व है।

प्रारम्भ में प्रत्येक जैन जाति विशिष्ट क्षेत्रों में सीमित रही है। अनेक जातियाँ राजस्थान में, अनेक मध्य प्रदेश में, अनेक गुजरात में या महाराष्ट्र में आज भी प्रमुखता से पाई जाती हैं। पर व्यवसाय प्रधान वृत्ति होने के कारण अनेक जातियों की यह क्षेत्र सीमा भंग हो रही है और विभिन्न जैन जातियों के लोग भारत के विविध भागों में पाये जाते हैं। प्रायः सभी प्रमुख जैन जातियों के और समग्र जैन जाति के अनेक उद्देश्य-परक संगठन भी बने हैं जो जातिहित एवं धार्मिक संरक्षण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करते हैं। अब अनेक जैन जातियों के इतिहास भी सामने आ रहे हैं। बीसवीं सदी में यह स्पष्ट हो रहा है कि मध्य काल में जातीय अनुदारता के अनेक रूप अब भूतकाल की बात बनते जा रहे हैं और जैन संस्कृति की प्रभावकता बढ़ती जा रही है।

### 5. जैनतंत्र के भेद

ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक जीवित तत्र या उसकी सजीवता उसके सैद्धान्तिक मतवादों पर आधारित सम्प्रदायों के निर्माण पर निर्भर करती है। ये विशिष्ट मतवाद तत्र के बुद्धिवादी स्वरूप के प्रतीक तो होते ही हैं, उसके पुरातन और अधुनातन स्वरूप के भी द्योतक हैं। ये सैद्धान्तिक आधारों पर भी विकसित होते हैं और परिवर्तनशील परिवेश पर भी निर्भर करते हैं। जैन सघ भी इस परंपरा का अपवाद नहीं रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनतंत्र का जाति-आधारित वर्गीकरण सघभेद के बाद ही प्रकट हुआ होगा। यह सघ महावीर के बाद लगभग 150 वर्षों तक तो अविच्छिन्न बना रहा। उसके बाद इसमें विभिन्न समयों पर अनेक भेद प्रवीजित और विकसित हुये। इनमें से दो प्रमुख हैं—दिगंबर और श्वेतांबर। इनका प्रादुर्भाव लगभग 360 ईस्वीपूर्व में आचार्य भद्रबाहु-स्थूलभद्र के समय में हुआ होगा जब माघ (बिहार) में बारह वर्ष का अकाल पड़ा था। उस समय जो साधुसघ बिहार में रह गया था, उसने स्थूलभद्र के नेतृत्व में आगमबाचना और आगम सकलन किया। यह बाचना उस सघ को स्वीकार नहीं थी जो अकाल के समय धर्मरक्षार्थ दक्षिण की ओर चला गया था। यह बाचना साधुओं के दिगंबरत्व और परिस्थितिवश आचार पर केन्द्रित थी। इनमें बाद में स्त्रीमुक्ति, सर्वज्ञ की शारीरिक प्रवृत्तियाँ (दिव्यध्वनि, कवलाहार, आदि) तथा महावीर के विवाह आदि बिन्दु और समाहित हो गये। इसके अतिरिक्त, कुछ धार्मिक आचारों पर भी मतभेद हुये। इसके परिणामस्वरूप प्रथम सदी ईस्वी के लगभग जैन-सघ में दो स्पष्ट भेद सामने आये। प्रायः सभी विद्वान् यह मानते हैं कि दिगंबर सघ अधिक परम्परावादी, कठोर साधुचर्या, सिद्धान्त-परिवर्तन के प्रति अनुदार और अधि-विश्वासी रहा है। इसके विपर्यास में, श्वेतांबर सघ इन बिन्दुओं पर अधिक उदार और जैनधर्म-सर्वर्धक प्रवृत्ति का रहा है। यही कारण है कि इस सघ ने अनेक क्षेत्रों में अनेक युगों में उनके इतिहास निर्माण में भी प्रमुख भूमिका निभाई है। इसके बावजूद भी, ये दोनों सघ मूर्तिपूजक थे और वे पंद्रहवीं सदी तक जैन तंत्र के प्रमुख सघ रहे। दोनों ही सघों में अपनी-अपनी चतुर्विध सघ-बद्धता रही।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में मुस्लिम-युग में कट्टरवाद एवं मूर्ति-

भजन की प्रवृत्ति ने जैन-संघ के दोनों ही सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा-विरोधी आन्दोलन हुये। वास्तव में ऐसे विचार मूर्तिपूजको की अनेक कर्मकाण्डी एवं तथाकथित पुण्यानुबन्धी पापात्मक प्रवृत्तियों के कारण सदियों से प्रगतिशील समुदाय के मन में उभर रहे थे। इसके फलस्वरूप, 1450 के लगभग लोकाशाह (गुजरात) ने श्वेताबर सम्प्रदाय में सर्वप्रथम स्थानकवासी (शास्त्र-पूजक) उप-सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके लगभग 100 वर्ष बाद, 1560 में सत तारण स्वामी ने दिगंबर सम्प्रदाय में भी शास्त्रपूजक तारण पथ की स्थापना की। श्वेताबर स्थानकवासियों में 1760 में आचार्य भिक्षु ने एक अन्य उपसंप्रदाय की स्थापना की जिसे तेरहपंथी कहा गया। यह सम्प्रदाय आज पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थिति बनाये हुये है। ये अ-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय शास्त्र/आगमों के पूजक हैं और श्वेताबरों में तो इनकी संख्या एक तिहाई तक मानी जाती है। फिर भी, मूर्तिपूजा का सामान्य जन पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव तो है ही। अतः इस संप्रदाय की महत्ता अब भी बनी हुई है।

वर्तमान में, दिगंबर, मूर्तिपूजको के दो सम्प्रदाय हैं—तेरहपंथी (आगम पंथी या तेरह चारित्र पालक) और बीस पंथी। तेरहपंथी पूजन में सचित्त पदार्थों का उपयोग नहीं करते और न ही दूध आदि से अभिषेक करते हैं। बीसपंथी सम्प्रदाय का अभ्युदय राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव है जब जैनो ने अपने संरक्षण हेतु हिन्दुओं के अनेक विधि-विधान अपनाये। दक्षिण और पश्चिम भारत में अधिकांश में बीसपंथी पाये जाते हैं। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि श्वेताबर तेरहपंथी शास्त्रपूजक होते हैं जबकि दिगंबर तेरह पंथी मूर्तिपूजक होते हैं।

इन पंथों के अतिरिक्त, जैनो में अनेक अन्य पंथ भी हुये हैं। दूसरी - तीसरी सदी के लगभग यापनीय संघ का उदय हुआ था जिसके सिद्धान्त दिगंबर-श्वेताबर मतों के समन्वय पर आधारित थे। यह मत मध्य काल तक जीवित रहा। अब यह सम्भावना है कि यह दिगंबर पंथ में समाहित हो गया। सोलहवीं सदी में एक और जैन पंथ का उदय हुआ जिसे अध्यात्म पंथ कहते हैं। इसका प्रारंभ बनारसीदास ने किया था और बाद में इसे पण्डित टोडरमल और कानजी स्वामी ने आगे बढ़ाया। इस पंथ में दिगम्बर और श्वेताबर दोनों परम्परावादी सम्प्रदायों के लोग सम्मिलित हुये हैं। इनकी संख्या पाँच लाख तक बतायी जाती है। इस पंथ को शुद्धान्नाय भी

कहते हैं। इसमें निरपेक्ष तत्त्व (निश्चयनय) की प्रधानता है। आचार्य कुदकुंद को इस पथ का प्रथम उद्घोषक माना जाने लगा है। इन पथों के अतिरिक्त, अनेक छोटे-मोटे अल्पस्थायी पथों ने भी जैन सघ में जन्म लिया पर वे कभी भी महत्त्व न पा सके।

## 6. जैन आगम साहित्य

भारत में जैन मुख्यधारा के महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक समुदाय के प्रतिनिधि हैं जो उसकी जनसंख्या का लगभग 1 प्रतिशत हैं। भारतीय संस्कृति के विकास में उनका योगदान उनके संख्यात्मक अनुपात से कहीं अधिक व्यापक एवं प्रभावकारी है। यह कहा जाता है कि जैन अपने आगम साहित्य, साधु, मन्दिर, सघ-बद्ध स्वरूप, तीर्थयात्रा एवं अनेक विश्वकल्याणकारी प्रवृत्तियों के कारण ही, विषम परिस्थितियों में भी, अपने को सुरक्षित, संरक्षित एवं सवर्धित कर सके। आगम शब्द से उन पवित्र पुस्तकों का बोध होता है जिनमें धार्मिक आचार-विचार संहिता एवं नैतिकता प्रेरक धर्मकथाएँ संग्रहीत हैं। ये न तो ईश्वरीय हैं और न ही ईश्वर-प्रेरित हैं। इनमें अन्तर्जगत के अनुभवों को प्राप्त करने वाले महापुरुषों के द्वारा उपदिष्ट लोकहित एवं अध्यात्महित से संबंधित वचनों का सार है। जैनो की मूलभूत आगम पुस्तकों अन्य तंत्रों की अपेक्षा अपनी विषयवस्तु के कारण विशिष्ट हैं। इनमें न तो कथात्मक वर्णन है, न इतिहास है और न ही पूजावदना आदि हैं। इनमें नैतिक और आध्यात्मिक उपदेश हैं जो मानव के लौकिक जीवन को समुन्नत करते हैं। जैनो के उत्तरवर्ती साहित्य में अन्य तंत्रों के समान कथात्मक विवरण आदि सुबोध विधियाँ भी समाहित हुई हैं। जैनो का मूल आगम साहित्य चौथी सदी ई० पू० से पाचवी सदी ई० के बीच चार आगम वाचनाओं—पटना, (360 ई० पूर्व), कुमारी पर्वत (उडीसा, 180 ई० पूर्व), मथुरा—बलभी (315 ई० और बलभी (450-460 ई०)—के माध्यम से संकलित एवं लिपिबद्ध किया गया है। कलिंग वाचना ने दिगंबर आगम-कल्प ग्रन्थों का संकलन किया और अन्य वाचनाओं में श्वेताम्बर—मान्य आगमों का संकलन एवं लिपिबद्धन हुआ। इन आगमों के मूलकर्त्ता तो तीर्थंकर (सर्वज्ञ) माने जाते हैं लेकिन उसे सूत्र और ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत करने वाले उनकी परम्परा के गणधर और उत्तरवर्ती आचार्य माने जाते हैं।

यद्यपि आगमों में जैनों के मूल सिद्धान्त बताये गये हैं, फिर भी वाचनाओं में भिन्नता के कारण दोनों सम्प्रदायों में उनकी मान्यता के विषय में कुछ चर्चा पाई जाती है।

जैनों का आगम साहित्य तीन क्रोटियों में वर्गीकृत किया जाता है—(1) पूर्व या पूर्व-आगम (2) आगम और आगमकल्प ग्रन्थ और (3) पूरक या उप-आगम। पूर्व आगमों के 14 ग्रन्थ हैं जो अब अनुपलब्ध हैं। लेकिन इनकी विषय वस्तु 12 आगम ग्रन्थों के बारहवें ग्रन्थ (दृष्टिवाद) के एक अंश के रूप में समाहित की गई है। आगमों को शास्त्रों में "अंग" कहा जाता है। इनकी संख्या बारह है जिनमें आचारांग, सूत्र कृतांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति आदि प्रमुख हैं। बारहवा दृष्टिवाद अंग सबसे विशाल है, पर उसे लुप्त माना जाता है। पूरक या उप-आगमों को "अगबाह्य" कहा जाता है। इनकी संख्या समय-समय पर परिवर्ती होती रही है। इनमें से उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ और रिषिभाषित के समान कुछ ग्रन्थ आगमों के समान प्राचीन हैं। पर कुछ तो उत्तरवर्ती 5-6 वीं सदी में भी लिखे गये हैं। इन उप-आगमों के पांच वर्ग हैं—(1) 12 उपांग (2) छेद-सूत्र (3) मूल-सूत्र (4) प्रकीर्णक और (5) चूलिका। इन आगमों में साधु आचार और नियम और इनके उल्लंघन पर दंड व्यवस्था जैन तंत्र के मुख्य सिद्धान्त, प्रेरक धर्म कथाएँ एवं पुराणकथाएँ तथा सवाद और तर्कवाद के माध्यम से अन्य दर्शनो के खंडन एवं जैन-मत मंडन पाये जाते हैं। अगबाह्य ग्रन्थों में भी यही विषय-वस्तु पाई जाती है लेकिन उनमें कर्मकांड, लोकशास्त्र (भूगोल), प्रार्थनाएँ एवं स्तुतियाँ एवं मुनि चर्चाएँ भी उल्लिखित हैं। इन आगम और उप-आगमों की संख्या 32 से 84 के बीच मानी जाती है जो श्वेतांबरों के विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा मान्य एवं विभिन्न समयों में रचित ग्रन्थों पर आधारित है। फिर भी, मुख्य आगम ग्रन्थ 32 ही माने जाते हैं जिनका आधार दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का स्मृति ह्रास है।

दिगंबर सम्प्रदाय में जैन आगमों का इतिहास कुछ विशिष्ट ही है। यद्यपि वे भी आगम साहित्य के उपरोक्त तीन वर्गों को मानते हैं लेकिन वे केवल 26 ग्रन्थों को ही मानते हैं। इनके पूर्व-आगम एवं आगम-ग्रन्थों के नाम समान हैं पर उनके उप-आगमों के बहुतेरे नाम समान हैं पर अन्य कुछ नाम भिन्न भी हैं। तथापि, उनकी मान्यता है कि यह सब आगम साहित्य लुप्त या स्मृति-ह्रासित हो चुका है। इसके विपर्यास में, वे दो मूल

आगम—कल्प कोटि के ग्रंथ मानते हैं—एक षट्खंडागम है जो कर्म सिद्धान्त का विवरण देता है और दूसरा कषाय प्राभृत है जो कर्म प्रभावक कषायों को निरूपित करता है। इन दोनों की विषय वस्तु विलुप्त पूर्व आगमों से ली गई है। इन दोनों ग्रन्थों की रचना दूसरी सदी के आसपास हुई है। इसके अतिरिक्त, उत्तरवर्ती काल के भी अनेक ग्रन्थ इस कोटि में माने गये हैं। मालवणिया ने बताया है कि दिगबरो में आगमों के स्मृति-हास-जन्य क्रमिक विलोपन की दर श्वेताम्बरों की तुलना में काफी अधिक है। इस तथ्य के कारणों पर विचार करने की आवश्यकता है।

वर्तमान में उपलब्ध आगम ग्रन्थों की मान्यता के विषय में जो भी स्थिति हो, यह स्पष्ट है कि यह साहित्य विशाल है। परिमाणात्मक रूप से इसके पदों की संख्या प्रायः एक काल्पनिक संख्या (2<sup>१०</sup>-1) है। इस साहित्य पर काकदृष्टि डालने पर यह अनुमान लगता है कि जैन तत्र की विविध अवधारणाओं, आचार-नियमों एवं विचारसरणियों के विकास का एक अपना इतिहास है। इस दृष्टि से इनका अध्ययन सशोधकों के लिये एक रोचक विषय है।

## 7. जैन कला और स्थापत्य

जैन प्राचीन काल से ही अपनी सांस्कृतिक विरासत के लिये गौरवशाली रहे हैं। इनकी विविधा-भरी कला में धार्मिक झुकाव है। प्रारम्भ से प्रमुखतः मूर्तिपूजक होने के कारण ये प्रतिमा-विज्ञान और मूर्ति-निर्माण कला के सशक्त विशेषज्ञ रहे हैं। उन्होंने तीर्थंकरों की मूर्तियाँ विभिन्न वस्तुओं से (पत्थर, सगमरमर, धातु आदि) विभिन्न आकार-प्रकार और आसनों (खड्गासन पद्मासन) में बनाई हैं। उन्होंने चट्टानों में भी मूर्तियाँ खनित की हैं। सभी मूर्तियाँ परिमाणात्मक सूक्ष्मता से बनाई गई हैं। उनकी आकर्षक ध्यानमुद्रा की आकृति है जो सासारिक जीवन से सफल निवृत्तिमार्गी जीवन की ओर मुड़ने को प्रेरित करती है। उनमें बहुतेरी मूर्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है—इनमें से एक कर्नाटक के श्रवणबेलगोला के भगवान् बाहुबली (983 ई०) की है और दूसरी बड़बानी (म०प्र०) के भगवान् ऋषभदेव की है। ये अपनी ऊँचाई और भव्यता के लिये विख्यात हैं। सभी जैन प्रतिमायें



विधिवत् प्रतिष्ठित होने के बाद ही पूजनीय होती हैं। अप्रतिष्ठित एवं खंडित मूर्तियों की पूजा नहीं की जाती। ये प्रतिष्ठा महोत्सव जैनों के विशिष्ट, भव्य और सस्कृति-सम्बर्धक सप्तदिवसीय आयोजन है जिनमें लाखों लोग भाग लेते हैं और धार्मिक कार्यों के लिये पर्याप्त आय होती है। इस सदी में ऐसे उत्सवों की आवृत्ति बढ़ रही है और समग्र भारत में उनका प्रसार है।

जैन मूर्तियां भारत के विभिन्न भागों में प्रायः 400 ई० पूर्व से ही पाई जाती हैं। इनकी संख्या अगणित हैं। किसी भी संग्रहालय में विभिन्न मूर्तियों के अवलोकन से यह अनुमान लगाना सहज है कि मूल सामग्री एवं सौन्दर्य की दृष्टि से जैन प्रतिमा विज्ञान का विकास किस प्रकार हुआ है।

गुजरात में पालीताना (शत्रुजय) जैन प्रतिमाओं की विविधता और सौन्दर्य के लिये विख्यात है। प्रारंभ में, प्रतिमायें दिगंबर और बिना चिन्ह के ही बनाई जाती थीं। लेकिन बाद में (4-5 वीं सदी) मूर्तियों पर प्रतीक अंकित किये जाने लगे-सिंह (महावीर), फणयुक्त सर्प (पार्श्वनाथ) और वृषभ (रिषभनाथ) आदि। कभी-कभी मूर्तियों के पादमूल में प्रतीकों के अतिरिक्त दोनों ओर अष्टमंगल द्रव्य भी अंकित किये जाते हैं। मूर्ति निर्माण कला में बाद में यक्ष-यक्षी के समान भक्त देवी-देवताओं (शासन-देवताओं) को भी अंकित किया जाने लगा। इन प्रतिमाओं की विविधता भी मनोहारी है। कुछ प्रतिमाएं चतुर्मुखी होती हैं। कुछ में चौबीसी होती हैं। अब नदीश्वर द्वीप आदि में समवशरण की रचना भी समाहित की जाती है।

मूर्तिनिर्माण कला का एक रूप तीर्थंकरों या पूज्य पुरुषों के चरण चिन्हों के रूप में भी पाया जात है। ये चरण चिन्ह उस पथ के पथिक बनने की ओर प्रेरित करने की ओर स्मरण कराते हैं जो हमें उत्तम सुख प्रदान करें।

प्रतिमा विज्ञान के उत्तरवर्ती विकास काल में संप्रदायगत पहिचान के लिये मूर्तियों को सज्जित एवं चिह्नित रूप में बनाया जाने लगा। ये मूर्तियां श्वेतांबर सम्प्रदाय में पाई जाती हैं। इनको भी अंजन शलाका के समान उत्सवों के माध्यम से प्रतिष्ठित किया जाता है।

जैन प्रतिमाओं के निर्माण की कला भारत के गुजरात और राजस्थान राज्यों में बहुप्रचलित है और प्रतिष्ठित मानी जाती है। अब तो भारत में

निर्मित जैन मूर्तियाँ विदेशों में बने जैन मंदिरों में भी प्रतिष्ठित की जा रही हैं (कीनिया, लेस्टर, सिद्धाचल, शिकागो, सांफ्रांसिस्को आदि)।

जैनों में स्थापत्य कला के अन्तर्गत मंदिर निर्माण कला भी उत्कृष्ट कोटि की पाई जाती है। ये मंदिर अपने स्थापत्य की डिजाइन के आधार पर क्षेत्र विशेषों की दृष्टि से विशेषित किये जा सकते हैं। मंदिर पूजा के स्थल होते हैं, जहाँ जैन मूर्तियाँ और उनके शासक और सरक्षक देवी - देवता पत्थर या सगमरमर की बनी भव्य वेदियों पर यथास्थान विराजित रहते हैं। खजुराहो, देवगढ़, आबू, राणकपुर आदि स्थानों में मंदिरों में अचरजकारी नक्काशी भी पाई जाती है। हस्तिनापुर, मथुरा आदि स्थानों पर बने मंदिरों में उनके सामने स्तूप बने होते हैं जो मंदिर परिसर की भव्यता प्रदर्शित करते हैं। बहुतेरे मंदिरों के सामने मानस्तम्भ के स्तम्भ होते हैं जो कषायों या अशुभ मनोभावों के विदलन को प्रेरित करते हैं। ये जैन मंदिर निर्माण कला की विशेषता हैं।

उड़ीसा, विहार और दक्षिण भारत में पत्थर और चट्टानों में गुफामंदिर भी बनाये गये हैं। कुछ गुफामंदिर पालिस किये पत्थर के बने होते हैं और उनमें पत्थर का ही नीला चबूतरा होता है जो सत्लेखना या समाधि स्थल होने का संकेत देते हैं। ये समाधि स्थल भी मंदिरों के समान पूज्य माने जाते हैं। सम्मेल शिखर पर्वत, इसीलिये, वदनीय माना जाता है।

जैन मंदिर नागर और द्रविड शैली की कला के प्रतीक हैं। ये मंदिर सामान्य जैन बस्तियों के अतिरिक्त, कुछ विशेष स्थानों पर भी बनाये जाते हैं जो मंदिर-नगर के रूप में विकसित हो जाते हैं। ऐसे नगरों में पाली-ताना, अहार, कुडलपुर, राजगिर आदि नगर प्रसिद्ध हैं। यह मंदिर निर्माण कला आज भी प्रतिष्ठित रूप में अविरत रूप में प्रगतिपथ पर चल रही है।

अनेक मंदिरों की भीतरी दीवारों पर एव गुफाओं में पेन्टिंग की कला भी प्रदर्शित की जाती है। इसमें धार्मिक एवं पैराणिक कथाएँ, तीर्थंकरों के जीवन की प्रमुख घटनाएँ, माताओं के स्वप्न, पौराणिक दृश्य तथा चित्र कथाएँ होती हैं। इसी प्रकार ताडपत्रीय लेखन की कला भी जैनों में प्रसिद्ध रही है। अनेक जैन शास्त्र-भण्डारों में इसके मनोरम रूप देखने को मिलते हैं। लकड़ी की कशीदाकारी की कला भी अनेक मंदिरों में देखी जाती है। यह कला गुजरात में बहुत प्रचलित है। घरों में पाये जाने वाले देवालयों

में इसका मनोहारी रूप बड़ा आकर्षक होता है। इन कलाओं में से अब कुछ का महत्व और अस्तित्व क्रमशः कम होता जा रहा है।

जैन कला और स्थापत्य का प्रमुख उद्देश्य जैन संस्कृति का संरक्षण एवं संवर्धन रहा है। यह धर्म श्रद्धालुओं में आंतरिक दृष्टि से मनोवैज्ञानिक आनंद भी देती है। इससे इनके निर्माताओं की प्रतिष्ठा भी बढ़ती है। जैनो का विश्वास है कि कला सत् धर्म भावना की प्रतीक है। कला के धार्मिक महत्व के अतिरिक्त, यह राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर का भी प्रतिनिधित्व करती है। यही कारण है कि बहुत से जैन धार्मिक कला केन्द्र पर्यटकों के आकर्षण केन्द्र (खजुराहो, पालीताना आदि) भी बन गये हैं।

### 8. धार्मिक यात्रा हेतु पवित्र स्थल : तीर्थ क्षेत्र

अन्य धर्मग्रन्थों (बौद्धों के लिये बुद्धगया और सारनाथ, हिन्दुओं के लिये चारो धाम, मुस्लिमों के लिये मक्का-मदीना, ईसाइयों के लिये बेटिकन सिटी और यहूदियों के लिये यरूशलम आदि) के समान जैनो के भी अनेक पवित्र तीर्थ स्थान हैं। परम्परागत जैन अनुयायी इनकी यथाशक्ति यात्रा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। यद्यपि मुस्लिमों के समान दानपात्र एवं यात्रा जैनो में अनिवार्य कर्तव्य नहीं माना जाता, फिर भी तीर्थ यात्रा पर लोगों की श्रद्धा है। तीर्थस्थान ऐसे पवित्र स्थान माने जाते हैं जहाँ कोई विशिष्ट धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण या पुण्यकारी घटना घटी हो और जहाँ जाने पर उसके दर्शन-स्मरण से भावात्मक विशुद्धि एवं उत्कृष्ट जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रेरणा मिले। वर्तमान में तीन प्रकार के तीर्थ स्थान पाये जाते हैं—(1) निर्वाण क्षेत्र (2) अतिशय क्षेत्र और (3) कला क्षेत्र। निर्वाण क्षेत्र ऐसे पवित्र स्थान हैं जहाँ से तीर्थंकरों, शलाकापुरुषों तथा साधुओं ने अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर सिद्धि पाई हो। इस प्रकार के क्षेत्रों के विवरण “निर्वाण कांड” नामक प्राकृत रचना में दिया गया है। उनकी यात्रा महान् पुण्यार्जनी मानी गई है। यह एक बाह्यतप के रूप में भी मानी जाती है। ऐसे क्षेत्रों में पारसनाथ, चपापुर, तथा पावापुर बिहार प्रदेश में हैं, गिरनार गुजरात में है, कैलाश हिमालय में है। ये चौबीस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमियाँ हैं। इसके अतिरिक्त, शत्रुजय, तारंगा,

द्रोणगिरी, चूलगिरि, श्रवणगिरि आदि भारत के कोने-कोने में फैले अनेक तीर्थ क्षेत्र हैं जहाँ से विभिन्न युगों में अनेक साधुओं ने सिद्धि पाई है। इन तीर्थक्षेत्रों की विशेषता यह है कि ये प्रायः पर्वतीय उपत्यकाओं में स्थित हैं। इनकी यात्रा पर्वतारोहण की कला का पूर्वाभ्यास कराती है। इस दृष्टि से ये स्वास्थ्य केन्द्र भी माने जा सकते हैं। इस प्रकार धार्मिक महत्त्व के अतिरिक्त, इन क्षेत्रों का मनोवैज्ञानिक और शारीरिक महत्त्व भी है। इनकी यात्रा जैनो में धर्म के प्रति श्रद्धा को प्रवर्धित करती है और साधर्मियों में भाईचारे की भावना को बलवती बनाती है।

दूसरे प्रकार के तीर्थ क्षेत्र "अतिशय क्षेत्र" कहलाते हैं। ये क्षेत्र (1) तीर्थंकरों एवं महापुरुषों के जन्म, दीक्षा एवं ज्ञान प्राप्ति के स्थान हैं या (2) इन पर ऐसी प्राकृतिक या अचरजकारी घटनाएँ हुई हैं जिनसे जैनधर्म के प्रति विश्वास और प्रभावना में योगदान हुआ हो। इस कोटि के स्थानों का कलात्मक महत्त्व भी संभव है। इस प्रकार के क्षेत्रों में वाराणसी, अयोध्या, राजगिरि, श्रवणबेलगोला, बावनगजा, खजुराहो, पपौरा, महावीर जी, तिजारा एवं अन्य स्थान आते हैं। ये स्थान प्रायः समतल स्थानों पर होते हैं। कुछ अपवाद भी हैं लेकिन इनके साथ भी भक्ति एवं पुण्यार्जन की भावना सहचरित रहती है। ये क्षेत्र भी भारत के चारों कोनों में फैले हैं। इन क्षेत्रों का मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी माना जाता है। कहते हैं कि इनकी यात्रा से मनोकामनाएँ भी पूरी होती हैं।

तीसरी कोटि के पवित्र स्थान जैन कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। इसलिये इनका महत्त्व द्वि-कल हो जाता है—कलात्मकतः और धार्मिकतः। इन स्थानों के मंदिरों में न केवल मंदिर ही, अपितु प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ भी मनोज्ञ होती हैं। आबू, राणकपुर, मथुरा, खडगिरि, खजुराहो आदि स्थान इस कोटि में आते हैं। वर्तमान में ऐसे अनेक क्षेत्रों का निर्माण हो रहा है जो इस कोटि में आते हैं। इन्दौर का गोम्मटगिरि, अमरकटक का सर्वोदय तीर्थ आदि संभवतः इसी कोटि में आवेगें। पर तीर्थ क्षेत्र किसी भी कोटि का क्यों न हो, उसकी यात्रा मनोवैज्ञानिकतः आत्मशुद्धि एवं स्वास्थ्य शुद्धि में कारण होती है।

चटर्जी ने भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए लगभग 290 जैन तीर्थक्षेत्रों की सूची दी है। इससे प्रकट होता है कि जैनो के विभिन्न कोटि

के तीर्थ क्षेत्र भारत के कोने-कोने में फैले हुए हैं। इनके कारण जैनतंत्र को न केवल समग्र भारतीयता प्राप्त होती है, अपितु जैन संस्कृति की जीवंतता का आभास भी होता है। इनसे जैन संस्कृति के विभिन्न रूपों के अखिल भारतीय महत्व एवं सामर्थ्य का भी प्रतिभास होता है।

## 9. जैनों के कर्मकांड : विधि-विधान और पर्व

मनोवैज्ञानिकों ने मानव-मस्तिष्क की प्रकृति और उसके व्यवहारों का अध्ययन किया है। उनका यह मत प्रतीत होता है कि उत्सव और कर्मकांडों की पृष्ठभूमि में ही धर्म-तंत्र विकसित होते हैं। विभिन्न प्रकार के उत्सव या कर्मकांड व्यक्ति के समाजीकरण के साधन हैं, तंत्र-विशेष के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव के द्योतक हैं, मानव की मनोवृत्तियों एवं विचारधाराओं के परिवर्तन के प्रतीक हैं और मानव की अंतरंग कामनाओं के प्रकाशक हैं। वे मनुष्य के भौतिक कल्याण के लिये तथा धार्मिकता के सम्बर्द्धन के लिये पवित्र औषध हैं। ये कर्मकांड और उत्सव विश्व के प्रत्येक धर्मतंत्र के अनिवार्य अंग हैं। इन्हें रुढ़ि मात्र कहना अपने अज्ञान को व्यक्त करना है। ये विधि-विधान कई रूपों में होते हैं। कुछ भक्तिवादी हाते हैं (पूजा, प्रार्थना, मंत्रोच्चार, जप, स्तुति आदि), कुछ उत्सवपरक होते हैं (पंच कल्याणक या अजनशलाका प्रतिष्ठा, मूर्तियों का अभिषेक और महाभिषेक, गजरथ-यात्रा, महापुरुषों के जन्म या निर्वाण दिवस आदि)। इनके अन्य रूपों में कुछ मनःशुद्धिकारी, कुछ प्रायश्चित्तकारी और कुछ प्रशंसाकारी रूप भी होते हैं। ये सभी प्रकार के विधि-विधान सम्यक् दर्शन के प्रभावना नामक आवेग अंग के विविध रूप ही माने जाते हैं। ये व्यक्ति को भी प्रभावित करते हैं और समाज को भी प्रभावित करते हैं। ये व्यक्ति को बाह्य जगत से अन्तर्जगत की ओर ले जाते हैं। इनका प्रभाव परोक्षतः ही ज्ञात होता है। समाजशास्त्रियों का यह सामान्य मत है कि बुद्धिवादी लोग कुछ भी कहे, विधि-विधान और धर्म को पृथक् नहीं किया जा सकता।

धर्म के इस समाजशास्त्रीय एवं नैतिकता-वर्धक रूप के क्षेत्र में जैन कैसे पीछे रह सकते हैं ? वे अन्य तंत्रों की तुलना में अपने उत्सव और विधि-विधानों के कारण एक महनीय एवं विविधतापूर्ण सांस्कृतिक तथा

धार्मिक जीवन बिताते हैं। अब तो भूतकालीन व्यक्तिवादी विधि-विधान भी समाजीकृत हो गये हैं। भक्तिवादी विधि-विधानों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की भौतिक और मानसिक पूजायें, अभिषेक, प्रार्थना और भजन, सामायिक, धर्मोपदेश-श्रवण आदि की प्रक्रियायें समाहित होती हैं। सामाजिक उत्सवपरक विधि-विधानों के अन्तर्गत अनेक बहुव्ययी भी होते हैं। इनमें तीर्थकर मूर्तियों की पूजनीयता के लिये उनके जीवन की गर्भ से लेकर निर्वाण तक की पांच पवित्र घटनाओं के प्रतीक के रूप में किये जाने वाले पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव या अन्य प्रकार के उत्सव, वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव, तथा इन्द्रध्वज, कल्पद्रुम, सिद्धचक्र विधान आदि समाहित होते हैं। साधुओं का दीक्षा महोत्सव भी एक ऐसा ही उत्सव है। ये बहुदिवसीय एवं महान्प्रभावक आयोजन होते हैं जो जैन संस्कृति की प्रभावना में महान् योगदान करते हैं। इनकी परम्परा बहुत प्राचीन है। अब तो ये उत्सव लेस्टर, नैरोबी, शिकागो आदि विदेशी नगरों में भी सम्पन्न होने लगे हैं। इनसे जैन संस्कृति की जीवन्तता एवं रंग-विरंगेपन की गरिमा प्रकट हुई है।

जैनो में विधि-विधानों के अतिरिक्त, अनेक अन्य उत्सव भी होते हैं। इन्हे सामान्यतः 'पर्व' कहा जाता है। ये पर्व गन्ने की गाठों के समान धार्मिकता को प्रबलित करते हैं और जीवन को समग्रतः भौतिक और आध्यात्मिक रूप से रसमय बनाते हैं। ये धार्मिक क्रियाओं और लक्ष्यों के स्मारक हैं। कुछ उत्सवों में कर्मकांड भी समाहित होता है। अगस्त-सितम्बर में मनाया जाने वाला 8-10 दिनों का पर्यूषण पर्व 'पर्वराज' कहलाता है। इन दिनों धार्मिक क्रियाओं के अनुष्ठान, स्वाध्याय, धार्मिक प्रवचन और कथा पाठ किञ्चित् तीक्ष्णता से किये जाते हैं। उपवास, ऊनोदरी आदि से भौतिक लाभ भी प्राप्त किये जाते हैं। रत्नत्रय, षोडशकारण, अष्टान्हिका, नदीश्वर आदि व्रतों के परिपालन की पूर्णता के समय भी वर्ष के विभिन्न अवसरों पर उत्सव आयोजित किये जाते हैं। महावीर निर्वाण के स्मारक के रूप में प्रायः अक्टूबर-नवम्बर में मनाये जाने वाले दीपावली उत्सव (प्रकाश-दीप उत्सव) को कौन भूल सकता है ? यह जैन संस्कृति का ही नहीं, समग्र भारतीय संस्कृति का प्रकाशक उत्सव कहा जाता है। श्रुतपंचमी का पर्व हमें महावीर के प्रथम उपदेश और श्रुत-सरक्षण के प्रयत्नों का स्मरण कराता है। अगस्त में पड़ने वाला रक्षाबंधन पर्व तो जैनो का ही नहीं,

संसार का ही विशिष्ट पर्व है जिसमें समाज के दुर्बल सदस्य-विशेषतः महिलाएँ अपने से अच्छी स्थिति वाले समुदाय से भ्रातृभाव को एक भौतिकतः कमजोर पर मानसिकतः प्रबल सूत्र बंधन से सुदृढ़ करते हैं और एक-दूसरे की सुरक्षा को संबल देते हैं। क्षमावाणी और प्रायश्चित्त सबत्सरी का व्रत भी जैनो की एक विशेषता है जिसे आजकल "विश्व-क्षमावाणी दिवस" के रूप में संसार के अनेक भागों में मनाया जाने लगा है। इस दिन समाज के व्यक्ति एक दूसरे से अपनी जाने-अनजाने हुई भूलों के लिये क्षमा मांगते हैं और भविष्य में उत्तम व्यवहार के लिये वचनबद्ध होते हैं। यह सामाजिक भाईचारा को सर्वाधिक करने वाला महान पर्व है। यह पर्यूषण पर्व का समारोपक उत्सव है। जिन वाणी सग्रहों की सूची के अनुसार जैनो के पर्वों और व्रतों की संख्या प्रतिवर्ष 250 से अधिक ही बैठती है। इससे यह संकेत मिलता है कि यदि अन्य प्रकार के धर्म प्रभावना के आयोजन जोड़े जावे, तो वर्ष का प्रत्येक दिन ही व्रत-विधान का दिन माना जाना चाहिये।

आजकल सामूहिक मंत्र-स्तोत्र पाठ (णमोकार मंत्र, भक्तामर स्तोत्र आदि) और भजन-स्तुतियाँ भी उत्सव के रूप में आयोजित होने लगे हैं। यही नहीं, पर्व के दिनों में धार्मिक उद्देश्यों एवं कथाओं से सम्बन्धित नृत्य, नाटक-नाटिकाएँ आदि के कलात्मक प्रदर्शनों की ओर भी नई पीढ़ी का ध्यान जाने लगा है। विदेशों में यह प्रक्रिया अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भी प्रदर्शित होने लगी है। अनेक लोग यह अनुभव करते हैं कि संभवतः एक वर्ष में जितने दिन होते हैं, उससे कहीं अधिक पर्व और उत्सव होते हैं। तथापि यह ध्यान में रखना चाहिये कि अनेक उत्सव वैकल्पिक या स्वैच्छिक होते हैं और व्यक्ति या समूह उनका चयन कर उन्हें मनाते हैं। ये पर्व और उत्सव तथा विधि-विधान जैन-तंत्र के भूतकालीन एवं वर्तमान प्रभावकता, रंगीलेपन एवं जीवतता के प्रतीक हैं। वस्तुतः ये जैन-तंत्र के सरक्षित बने रहने के एक महत्वपूर्ण कारण रहे हैं।

## 10. जैन सिद्धान्तों का प्रभावी सम्प्रेषण

जैनाचार्यों ने जैन सिद्धान्तों के प्रभावी सम्प्रेषण के लिये अनेक उपाय

किये है। प्रारम्भ में, इन उपायों में उपदेश श्रवण ही प्रमुख माध्यम था। इसके बाद पाठ्य सामग्री रची गयी। इस तरह श्रव्य के साथ पाठ्य माध्यम भी विचार सम्प्रेषण का घटक बना। दोनों ही माध्यमों में धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित कथा-कहानियों का अच्छा उपयोग किया गया। उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनुभव किया कि सामान्य जनता के लिए श्रव्य एवं पाठ्य माध्यमों की अपेक्षा दृश्य एवं प्रतीकात्मक सम्प्रेषण मनोवैज्ञानिकतः अधिक प्रभावकारी विचार सम्प्रेषण माध्यम हो सकते हैं। उस युग में दृश्य-श्रव्य माध्यमों का विकास नहीं हुआ था जो श्रव्य माध्यम से भी अधिक प्रभावकारी होते हैं।

दृश्य माध्यमों के रूप में जैनाचार्यों ने अनेक प्रतीकात्मक चित्रों द्वारा अपने सिद्धान्त समझाने के प्रयास किये। यह विधि अन्य तंत्रों में कम ही देखी जाती है। ये प्रतीकात्मक चित्र समझने के लिए लोकप्रिय एवं दृश्य रूप में व्यक्त किये जाते हैं। यह चित्र-अभिव्यक्ति जैनाचार्यों द्वारा सुविचारित रूप से विकसित एक युक्ति है जो आध्यात्मिक तत्त्वों का अंतरंग अर्थ समझने में सहायक होती है। इसके उपमान और रूपक गहन अर्थ को सरल और सुबोध बना देते हैं। यहाँ हम कुछ प्रतीकात्मक विचार सम्प्रेषक चित्रों का संक्षेपण देंगे।

(अ) **ऊँ, ओम्, :-** ओम् का प्रतीक अनेक तंत्रों में माना जाता है। इसके लिखने की विधिया भी अनेक हैं। विदेशी धर्म तंत्रों में इसे "आ-मैन" के द्वारा निरूपित किया जाता है। यह प्रतीक किसी भी प्रवृत्ति के आदि-अंत में विलगित या सम्मिलित रूप में पढ़ा जाता है। ध्यान क्रिया का प्रारम्भ तो ओम् ध्वनि के तीन बार पाठ से ही होता है। इसका पाठ शरीर की ऊर्जा को वर्धित होने से रोकता है एवं साधना के लक्ष्य तक पहुँचाता है। यह "सोऽह" और "अब-मन" का परिवर्धित और व्याकरणिक रूप है। ओम् की ध्वनि पूर्णता एवं अनन्तता की प्रतीक है। जैनतंत्र में इसे पंच परमेष्ठी का प्रतीक माना जाता है जो हमारे आदर्श



चित्र 3 ओम् का चित्र

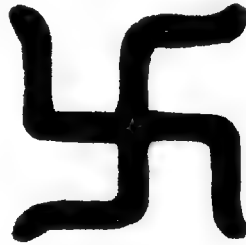


आराध्य हैं। यह त्रिरत्न का भी प्रतीक है। यह ब्रम्हा, विष्णु और महेश की शक्तियों का भी प्रतीक है। यह प्राण-शक्ति का भी द्योतक है। यह नाडी संस्थान की नियंत्रक है। कुछ लोगो का कथन है कि यह अनेकातवाद की त्रिपदी का भी प्रतीक है।

यह माना जाता है कि जब तीर्थंकर को सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, तब उसके शरीर से स्वतः ही तात्कालिक ओम् ध्वनि प्रस्फुटित होती है। यह ध्वनि सकारात्मक ऊर्जा का सांद्रित रूप है। इसके उच्चारण से मन शांत और पवित्र होता है। फलतः ओम् का प्रतीक पंचपरमेष्ठी का स्मरण कराता है, आंतरिक ऊर्जा के संचय को प्रेरित करता है और मानसिक एकाग्रता को बढ़ाने के संदेश देता है। यह अनेक मंत्रों का प्रभावी बीजाक्षर है जो कल्याणकारी माना जाता है। “ओम् ह्रीं अर्हं” एक ऐसा ही महाप्रभावी बीजाक्षरी मंत्र है जो जपको को शक्तिशाली बनाता है।

(ब) स्वस्तिक :-स्वस्तिक का प्रतीक भी अनेक तंत्रों में माना जाता है। यह मंगल, समृद्धि और कल्याण का प्रतीक है। ओम् के समान मागलिक अवसरो पर स्वस्तिक भी लिखा जाता है।

जैनतंत्र के अनुसार, इसकी चार भुजाये ससार की चार गतियों-नरक, देव, पशु और मनुष्य-की निरूपक है। यह



चित्र 4. स्वस्तिक का चित्र

प्रतीक स्मरण कराता

है कि जीवन का लक्ष्य इन गतियों के परिभ्रमण से मुक्त होना है। स्वस्तिक को अष्ट मंगल द्रव्यों में से एक माना जाता है। पांच स्वस्तिकों के विशिष्ट ज्यामितीय एवं कलापूर्ण समुच्चय को नन्द्यावर्त कहते हैं। यह प्रतीक सौभाग्य एवं मंगल का द्योतक है। स्वस्तिक लिखकर भी बनाया जाता है और माडलो (मोडल आदि में) में रंग-विरंगे पूर्ण-तड्डुलों के दानों से भी बनाया जाता है।

(स) संसार कूप : जैन मान्यता के अनुसार यह विश्व गहन एवं

काटेदार वृक्षो से भरा हुआ एक गहरा कुआ है। इन वृक्षो पर शहद के छत्ते लगे हुये है। इस संसार मे मधु-बिन्दु के समान सुख की मात्रा कम और दुख की मात्रा विशाल है। यह मनुष्य उस



चित्र 5 ससार कूप

अल्प मधु-विन्दु की आशा मे सारा जीवन दुःख मे बिताता है। जैनतंत्र का ससारकूप प्रतीक एक ओर ससार की सुखमयता की उद्घोषणा करता है, वही दूसरी ओर यह संकेत भी देता है कि हमे इसमे सुखमयता बढ़ाने के उपाय करने चाहिये।

(द) **लेश्या-वृक्ष** : जैन मान्यता के अनुसार, मनुष्य के मनोभाव और प्रवृत्तियां छह प्रकार की होती हैं-तीन शुभ और तीन अशुभ। किरिलियन फोटोग्राफी द्वारा यह पता चलता है कि प्रत्येक मनुष्य के चारों ओर एक रंगीन आभा

मंडल रहता है जो उसकी मानसिकता व्यक्त करता है। क्रूर भावों के आभासमंडल का रंग काला, नीला और भूरा होता है तथा शुभ भावों के



चित्र 6 लेश्या वृक्ष

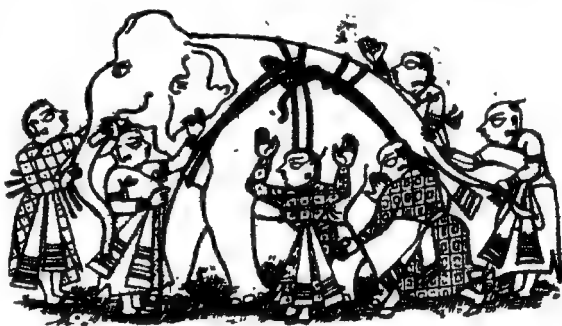
आभासमंडल का रंग पीला, लाल और सफेद होता है। वस्तुतः मनुष्य के मनोभाव उसकी आध्यात्मिक प्रगति के निरूपक हैं। लेश्यावृक्ष एक फलदार पेड़ है जिसके फलों को खाने के लिये छह आदमी भिन्न-भिन्न प्रकार से

सोचते हैं। सबसे बुरे मनोभावों वाला व्यक्ति वह है जो पूरे पेड़ को ही काटना चाहता है और सबसे अच्छा आदमी वह है जो पेड़ के नीचे पड़े हुये पके फलों को खाकर ही सतोष मानने की बात सुझाता है। लेश्या वृक्ष जैनाचार्यों के मनोवैज्ञानिक चिंतन का प्रतीक है और हमें शुभ भावों, अहिसक प्रवृत्तियों को अपनाने का संदेश देता है।

(य) गुणस्थानों की सांप-सीढ़ी का खेल :- यह भी एक मनोवैज्ञानिकतः अध्यात्म पथ के विकास का स्वरूप दर्शाने वाला प्रतीक चित्र है। इसमें मनोभावों, कषायों या अशुभ विचारों को शुभतर रूप में परिणत करने के चौदह चरण बताये गये हैं। इसका विवरण (चित्र 2) पहले दिया जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि दमन या उपशमन विकास का अच्छा मार्ग नहीं है। उदात्तीकरण या मार्गान्तरीकरण अधिक अच्छा उपाय है।

(र) हाथी और छह अंधे :- यह प्रतीक चित्र अनेकांतवाद को सरलता से समझाता है। यह संकेत देता है कि कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है। वह

अंधे के समान अपूर्ण है। प्रत्येक अन्धा हाथी को उसी रूप में देखता है जिस रूप में वह उसे छूता है। किसी के लिये हाथी खम्भे के समान है, किसी के लिये हाथी रस्सी



चित्र 7 हाथी और छह अंधे

के समान है, इत्यादि। एक आख वाला व्यक्ति उन्हें समझाता है कि प्रत्येक ने जो देखा है, वह अशतः ही सत्य है, पूर्णतः नहीं। पूर्ण सत्य तो छहों लोगों के द्वारा जो छुआ गया है, उसका सकलित रूप है। यह प्रतीक सत्य को समग्र आंशिक सत्यों के समाकलन से प्राप्त होता बताता है।

(ल) एक घाट पर सिंह और शावक :- यह प्रतीक चित्र जैन-तंत्र के अहिंसा के सिद्धान्त का निदर्शक है। जैन धर्म की अहिंसा विरोधी-समागमो की सम्प्रेरक है। नदी के पार करने के पथ पर हिंसक शेर और दुर्बल शावक एक स्थान पर मिलते हैं। एक दूसरे को पार-पथ देते हैं। मानव को

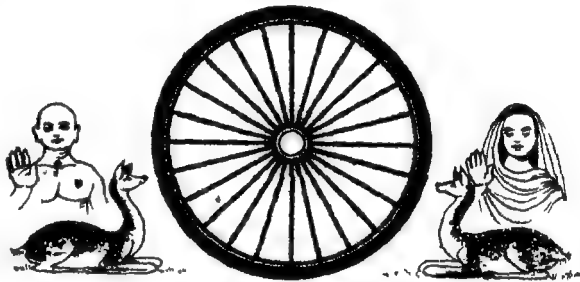
भी अपने  
जीवन में  
सहनशीलता  
बरतते हुये  
पारस्परिक  
हितो का ध्यान  
रखना चाहिये  
और ससार में  
सुख की वृद्धि  
करना चाहिये।



चित्र 8 एक घाट पर सिंह और शावक

(व) धर्म चक्र :- यह धर्म चक्र गतिशील ससार का प्रतीक है। इसे शांति और समृद्धि के प्रशस्त मार्ग पर चलने के लिये चक्र के विभिन्न आरे अनेक व्रत

एव सयम  
के नियमों  
के प्रतीक  
है। इनसे ही  
ससार में  
सुखमयता  
बढ़ती है।  
धर्मचक्र के



चित्र 9 धर्मचक्र

दोनों ओर सत्य और अहिंसा के प्रतीक दो हिरण बने रहते हैं। इस चक्र को चतुर्विध सघ आदरभाव से देखता है। ससार के सभी जीवों का कल्याण सत्य और अहिंसा से ही होता है। ये ही दो घटक हमें ससार चक्र के परिभ्रमण से मुक्त कर सकते हैं। सत्यभक्त ने इसीलिये सत्य को भगवान और अहिंसा को भगवती ही मान लिया है।

(श) जैन विश्व : जैनतत्र के इस समग्र संक्षेपण के प्रतीक की उद्भावना वीर निर्वाण की पच्चीसवीं सदी के अवसर पर 1974-75 में की गई थी। इस चित्र के अनुसार, जैन विश्व को दोनों पैर फैलाकर खड़े और कमर पर हाथ मोड़े मनुष्य के समान आकार का मानते हैं। इसमें वर्तमान विश्व मध्य में पड़ता है जो गोलाकार माना जाता है जहाँ हम रहते हैं। इस

विश्वरचना मे  
(1) चक्रयुक्त  
पजा, (2)  
स्वस्तिक (3)  
तीन बिन्दु  
और (4)  
अर्धचन्द्राकार  
स्थान पर  
बिन्दु बनाये  
गये है। यहा  
चक्रयुक्त पजा



चित्र 10 जैन विश्व

अहिंसा और अभय तथा सर्व-जीव-समभाव का प्रतीक है, स्वस्तिक को तो चार गतियों का प्रतीक बताया ही जा चुका है, तीन बिन्दु जैन धर्म के अध्यात्म पक्ष की त्रिवेणी-रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र) के प्रतीक है जिनके अनुपालन से ससरण-स्वस्तिक को सुखमय बनाया जा सकता है। अर्धचन्द्राकार स्थान सिद्ध शिला कहलाती है जहा बिन्दु के रूप मे सिद्ध-मुक्त जीव रहते है। इस प्रकार इस प्रतीक मे जीवन के लक्ष्य (उत्तम सुख, सिद्ध शिला प्राप्ति) और लक्ष्य प्राप्ति के उपाय (अहिंसा, अभय और रत्नत्रय) तथा वर्तमान ससार का आकार एव विविधता के आयाम बताये गये है जहा से हमे सिद्धि प्राप्त करना है। इस प्रतीक के नीचे जैनतत्र का प्रेरक वाक्य भी लिखा गया है जिसके अनुसार "सभी जीव" एक दूसरे के उपकारक है। फलत हमे स्वयं जीकर अन्यो के जीवन के उत्थान मे सहयोगी बनना चाहिये। यही धर्म पथ है, यही जीवन पथ है और यही अध्यात्म पथ है।

## 11. विदेशों में जैन धर्म

जैन इतिहास के अनुसार, भगवान् शिष्यदेव या आदिनाथ वर्तमान अवसर्पिणी युग मे जैनधर्म के पहले प्रवर्तक हुये। इन्होने श्रमण संस्कृति के विश्वधर्मी सिद्धान्तो का सार्वत्रिक प्रचार किया। इनका उल्लेख वेदो और

पुराणों में भी मिलता है। इन्होंने और इनके उत्तरवर्ती अनुयायियों ने बातरशना, व्रात्य या श्रमणों के रूप में देश-विदेश (यूनान, ईराक, ईरान, सुवर्णभूमि, मलय आदि) में पदयात्राओं के माध्यम से अहिंसा संस्कृति को सर्वत्र सार्वत्रिक रूप में प्रसारित किया है। यद्यपि यह प्रक्रिया पिछले दो-सौ वर्षों से पर्याप्त प्रगति पर है, पर इसके पूर्व का समुचित विवरण उपलब्ध नहीं होता। हा, कुछ सूचनाएँ अवश्य ऐतिहासिक काल क्षेत्र में आती हैं।

शास्त्रों में 25½ आर्य क्षेत्र एवं 55 म्लेच्छ क्षेत्रों का वर्णन आता है। 'शिष्ट-जन-सम्मत व्यवहार न करने वाले अनार्य हैं' की शास्त्रीय परिभाषा में वर्तमान विश्व का अधिकांश भाग अनार्य ही माना जायेगा क्योंकि वहाँ न तो जैन ही थे और न उनके उपदेशक। पर यह परिभाषा अब परिवर्धनीय हो गई है क्योंकि हम देखते हैं कि ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व ही न केवल श्रमण-साधु ही धर्म प्रसार-परिरक्षण यात्राएँ करते थे, अपितु "पणि" (जैन व्यापारी) भी एशिया के अनेक द्वीपों में व्यापार हेतु जाते थे और वे धर्म एवं संस्कृति के प्रत्यक्ष न भी सही तो परोक्ष प्रचारक होते थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से उन्होंने सुमेर, मिश्र, बेबीलोन सूबा, अफ्रिका, यूरोप एवं एशिया के क्षेत्रों में अपनी संस्कृति को फैलाया। ये सुमेर सभ्यता के संस्थापक बने। यही नहीं इस बात के उल्लेख है कि मध्य एशिया के शासक गिलागमश लगभग 3600 ईसा पूर्व में भारत यात्रा पर आये थे और उन्होंने आचार्य उत्तनापिष्टिम के दर्शन किये थे। बाबुल 1140 ई०पूर्व के सम्राट नेबुचेदनेजर ने गिरनार आकर वहाँ एक दानपत्र अर्पित किया था। क्वाजल कोरल के नेतृत्व में पणिसघ वर्तमान अमरीकी क्षेत्र में 2000 ईसापूर्व में गया था और वहीं बस गया। ऐसा ज्ञात होता है कि वर्तमान पश्चिमी क्षेत्रों में भी जैन-संस्कृति का प्रभाव था। यही कारण है कि हगरी में आये एक भूकंप के समय बुदापेष्ट नगर के एक बगीचे में एक तीर्थंकर प्रतिमा निकली थी। यूनान और अन्य क्षेत्रों में जैन साधुओं का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से माना जाता है। वहाँ और मिश्र में जैनमूर्तियाँ भी मिली हैं। समनेरस और "शमन" जैसे नाम भी इसी संस्कृति के प्रतीक लगते हैं। इस विषय में 'विदेशों में जैन धर्म' पुस्तक पठनीय है।

उपरोक्त उल्लेखों से ईसापूर्व सदियों में विश्व के अनेक भागों में जैन संस्कृति के व्यापक एवं प्रभावक अस्तित्व का अनुमान लगता है। लेकिन

भगवान् पार्श्वनाथ के समय से लका में तो जैन मंदिरों एवं मठों की सूचना भी मिलने लगती है। महावीर के युग में ईरान का राजकुमार आर्द्रक भारत आया था और जैन साधु बना था। इससे ईरान देश के राजकुल में भी जैन प्रभाव सिद्ध होता है। सम्राट सिकंदर भी अपने साथ कल्याण मुनि को ले गया था। दुर्भाग्य से उनकी समाधि ईरान में हो गई थी पर अन्य साधु मिश्र तक गये थे। विन्सेंट स्मिथ ने बताया है कि सम्राट संप्रति ने अरब, ईरान तथा अन्य देशों में अनेक जैन साधु एवं राजपुरुष जैनधर्म के प्रसार हेतु भेजे थे। कालकाचार्य द्वितीय ने भी अपने शिष्यों को धर्म प्रचार हेतु एशियाई देशों (सुवर्ण भूमि) में भेजा था। इन्होंने स्वयं भी ईरान, जावा सुमत्रा आदि की पदयात्रा की थी। इन साधुओं एवं राजपुरुषों के कारण ही अनेक देशों में आज भी जैन सस्कृति के अवशेष पाये जाते हैं। उसके सिद्धान्तों ने उन-उन क्षेत्रवासियों की जीवन शैली को प्रभावित किया है।

इतिहास-निरपेक्षता की वृत्ति के कारण कालकाचार्य के बाद अनेक सदियों तक जैन साधुओं के भारत से बाहर जाने की सूचनाये प्राप्त नहीं होती, परन्तु जो विदेशी पर्यटक एवं शासक यहाँ आये, वे अवश्य जैन-सस्कृति से प्रभावित हुये और वे अपने अपने देशों में उसके सवाहक बने। यही नहीं, जैन व्यापारी गण तो सदैव ही समुद्रपार यात्राये करते रहे। फलतः साधुओं के अभाव में भी विदेशों में विभिन्न भागों में जैन सस्कृति के बीज पल्लवित होते रहे।

साधु और व्यापारी तो प्रमुखतः जैन आचार का वाहक है। जैन विचारों का सवहन और दार्शनिक चिंतन तो ब्रिटिश काल में ही प्रभावी बन सका जब 1807 से कर्नल मेकेजी जैसे अनेक पाश्चात्य अन्वेषकों एवं (दो दर्जन से भी अधिक) विद्वानों ने जैन धर्म और सस्कृति की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने जैन विद्या के विविध अंगों का अध्ययन कर उसे विदेशी भाषाओं में प्रस्तुत किया और उसे अध्ययन का विषय बनाया। उनके प्रयत्नों का ही यह सुफल है कि आज विश्व के प्रायः सभी महाद्वीपों में जैन विद्याओं के शताधिक अध्ययन केन्द्र हैं, स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम हैं, अनेक शोधकर्त्ता हैं और नयी शोधदिशाये उद्घाटित हुई हैं। यह विद्वन्-मंडली ही सास्कृतिक प्रवाह की सर्वतोमुखी वाहिका होती है।

विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त, इस प्रवाह को गतिमान बनाने में शिकागो में 1893 में सपन्न "विश्वधर्म ससद" में भाग लेने वाले एक मात्र

जैन प्रतिनिधि श्री वीरचंद्र राघव जी गांधी ने महान योगदान किया है। उनके जैनधर्म सम्बन्धी लोकप्रिय व्याख्यान वर्षों तक विदेशों में हुये। वैरिस्टर चम्पतराय मण्डली ने भी अंग्रेजी में जैन साहित्य लिखकर एवं अनुदित कर उसे जनसुलभ बनाया और उसके विदेशों में लोकप्रिय बनाने में योग दिया। डा० कामता प्रसाद जैन ने “विश्व जैन मिशन” सस्था तथा ग्राइस आफ अहिंसा” “अंग्रेजी जैन गजट” तथा सैकड़ों लघु पुस्तिकाओं के माध्यम से इस कार्य में योग दिया। उन्होंने लंदन की जैन लाइब्रेरी तथा बडगोडेस वर्ग के शासकीय पुस्तकालय को जैन साहित्य से आपूरित किया। यद्यपि उनका यह मिशन सुनियोजित रूप में ले सका, फिर भी इसके कारण विश्व के अनेक भागों में सैकड़ों जैनतरो में जैन धर्म के प्रति रुचि जागी। अब इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये अनेक सस्थाये सुगठित हुई हैं। यह भाग्य की बात है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत से आये अनेक जैन व्यापारी विदेश के विभिन्न भागों में व्यापार हेतु जाने लगे और उसमें सफलता पाकर विदेशों में ही बसने लगे। इस बीच अनेक जोग उच्चतर अध्ययन, आजीविका हेतु भी उस ओर जाने लगे। फलतः अफ्रिका, यूरोप, उत्तरी अमेरिका एवं एशिया महाद्वीप के अनेक भागों में जैन पर्याप्त सख्या में पहुंचे। यह विदेशवासी जैनो की दूसरी पीढ़ी थी। कालांतर में इस पीढ़ी ने पिछले 15-20 वर्षों में अपनी ही संस्कृति के संरक्षण के उद्देश्य से अनेक सस्थाये, सस्था-संघ एवं जैन केन्द्र खोले। नैरोबी, लेस्टर, सिद्धाचल, शिकागो, डल्लास आदि में जैन मंदिर बनवाये और प्रभावक प्रतिष्ठाये आयोजित की। समय-समय पर अल्पमोली साहित्य भी (पत्र पत्रिकाये भी) प्रकाशित किया। इस सदी के सातवें दशक से तो जैन साधु भी वहां पहुंचने लगे और योग तथा ध्यान की प्रक्रिया के माध्यम से जैनतंत्र को लोकप्रिय बनाने लगे। अब तो प्रतिवर्ष प्रायः एक दर्जन से अधिक साधु-साध्वी और इतने ही विद्वान वहां जाने लगे हैं जो अपने सार्वजनिक भाषणों से इस तंत्र को और भी लोकप्रिय बना रहे हैं। इस लेखक ने भी प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि इससे अनेक विदेशी विद्वानों से उनका संपर्क हुआ है जो अब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विश्व के कोने-कोने में जैन संस्कृति के दूत बनकर उसे सप्रसारित कर रहे हैं। अब जैन-विद्याये अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का अंग बनने लगी हैं। अनेक जैन और जैनतंत्र विद्वान इनमें भाग लेते हैं। जैन संस्कृति के विविध



पक्षों पर ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रिया, कनाडा, अमरीका, जापान तथा अन्य देशों में शोध कार्य सम्पन्न होने लगा है। विभिन्न अवसरों पर वार्षिक व्याख्यानमालाये भी आयोजित होती है। नयी पीढ़ी के लिये भी अनेक कार्यक्रम आयोजित होते हैं। इस तरह विदेशों में अब जैनधर्म जैनो में तो लोकप्रिय हो ही रहा है, वह वहां के सामान्य और विद्वत्जनो को भी आकर्षित कर रहा है। अब यह विश्व के प्रायः सभी महाद्वीपों में अपनी पहचान बनाता दिखता है। इसके साधु, साध्वी, विद्वान और श्रावक सर्वत्र दिखने लगे हैं। यही कारण है कि भारत के बाहर जैनो की संख्या अब लाखों में पहुंच चुकी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सदी के पूर्व तक प्रायः अज्ञात बना यह धर्म अब दिग्-दिगत में अपनी सुवास फैला रहा है। इसका भविष्य अति उज्ज्वल है। एतदर्थ विश्व के कुछ प्रमुख केन्द्रों पर स्थायी रूप से जैन केन्द्र स्थापित करना एवं जीवनदानी जैन साधु/विद्वन्मण्डली को तैयार करना आवश्यक है।

## 12. जैनतंत्र की प्रभावकता का संवर्धन

जैनतंत्र के सिद्धान्तों की वैज्ञानिकता और सार्वजनीन उपयोगिता के बावजूद भी यह अपने से उत्तरवर्ती तंत्रों की तुलना में प्रभावी रूप से अतिजीविता एवं प्रचार क्यों नहीं पा सका ? यह प्रश्न गहनतः विचारणीय है। सामान्यतः विश्वजनीनता के लिये तंत्र की एक-संस्थापकता, एक पवित्र पुस्तकता और उत्तमता की धारणाये उत्तरदायी मानी जाती है। दुर्भाग्य से, ये तीनों ही धारणाये इस पर लागू नहीं होती क्योंकि इसके संस्थापकों की चौबीसी की त्रैकालिक परम्परा है, इसकी पवित्र पुस्तकों की संख्या 12-84 के बीच कुछ भी हो सकती है। इसी प्रकार अन्य तंत्रों में भी सत्यता है-की अनेकातवादी धारणा इस तंत्र की उत्तमता को भी स्पष्टतः उद्घोषित नहीं करती। यद्यपि इन तीनों ही आधारों पर इसकी प्रभाविता प्रबल नहीं दिखती, पर बौद्धिक दृष्टि से इसका व्यक्ति-विहीन गुण-विशेषित नाम और इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख-संवर्धन की प्रक्रिया इसे महाप्रभावी सिद्ध करती है। वैज्ञानिक और बुद्धिवादी युग के लिये यह उत्तम तंत्र है। इसकी लोकप्रियता के संवर्धन के लिये अनेक उपाय सुझाये जा सकते हैं। अनेक विचारक यह मानते हैं कि (1) इसकी प्रागैतिहासिक कालीन परम्परागत

प्राचीनता की धारणा ही इसकी लोकप्रियता में बाधक बनी है। (2) इसकी निवृत्ति मार्गी भाषा-जिसमें दमन, कायक्लेश, भोजन-नियंत्रण, उपवास और शारीरिक एवं मानसिक कठोर साधना तथा त्याग आदि समाहित हैं—भी लोगों को बहुत रास नहीं आ पायी है। लोगों की यह धारणा है कि अधिक प्राचीनता जड़ता का संकेत देती है। फलतः हमें इसकी भाषा को नवीनता-सकारात्मकता देनी होगी। यही नहीं, इसमें जनसाधारण के लिये कोई विशिष्ट दर्शन नहीं है। यही कारण है कि यह अनेक वर्तमान समस्याओं पर केवल मौन दर्शाता है। (3) जैन तत्र सकल्पी, व्यक्तिवादी एवं पौरुष प्रधान तत्र है। इसमें स्वयं का श्रम ही लक्ष्यवेधी होता है। फलतः अन्य भक्तिवादी तत्रों की तुलना में यह जनसाधारण को और भी कठोर प्रतीत होता है। (4) यह अतीतमुखी भी अधिक लगता है। वस्तुतः ये सभी विन्दु इसकी व्याख्या के वर्तमान स्वरूप को व्यक्त करते हैं। यदि हम इसके सिद्धान्तों को नयी वैज्ञानिक भाषा और आकर्षक व्याख्या दे सकें, तो इसकी प्रभावकता की वृद्धि में चार चाद लग सकते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में इसके अधिकांश भौतिक और नैतिक जगत सबधी सिद्धान्त न केवल पुष्ट हुये हैं अपितु परिवर्धित भी हुए हैं। यही कारण है कि आज विश्व के अनेक भागों में इसके प्रति रुचि बढ़ रही है।

जैन तत्र विश्व का अप्रतिम अनीश्वरवादी तत्र है जिसमें जीवन की वाह्य और आभ्यन्तर अनंत सुखमयता के आशावादी उद्देश्य को स्वयं प्राप्त करने के सकारात्मक उपाय बताये गये हैं। इसमें समग्र जीवन धारियों के प्रति समत्व और स्नेह, परिवेश की शुद्धता के प्रति चर्याये, सुविचारित क्रियात्मकता, स्वयं के ईश्वरत्व के प्रति आशावाद, शाकाहारी पद्धति के प्रति प्रतिबद्धहीन समर्पण, हिंसा, पीडा, या दुःख के अल्पीकरण की प्रवृत्ति, बुद्धिवादी दृष्टिकोण को अपनाने की मानसिकता, सर्वधर्मसमभावी सापेक्षदृष्टि, जाति एवं सम्प्रदायविहीन समाज रचना की मौलिक वृत्ति, अनेक सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण (गर्भपात, मृत्युदण्ड, सुखमृत्यु-इन के सबंध में सैद्धान्तिक सहमति नहीं है) आदि समाहित हैं। इन्हीं आधारों पर जैनतत्र को प्रगतिशील, गतिशील और क्रांतिकारी कहा जाता है। हमें इस तत्र के इन रूपों का आधुनिक रीति से व्यापक प्रसार करना चाहिए। इन सभी आधारों पर जैनतत्र के विश्वीकरण की प्रक्रिया

का भविष्य अत्यन्त आशावादी है। अनेक विदेशी विद्वानों ने जैनतंत्र के इस आशावादी रूप का अनुभव किया है और जैनो के सम-सामयिक समस्या निवारक स्पष्ट दृष्टिकोणों की सराहना की है।

### 13. समसामयिक समस्यायें और जैन धर्म

अभी कुछ ही समय पूर्व विश्व के एक-सौ महापुरुषों के विषय में जानकारी देने वाली एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। इसमें महावीर का नाम सम्मिलित किया गया था। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा महावीर का इस सूची में चयन यह इंगित करता है कि इस विश्व में मानव व्यवहार के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं उसके आध्यात्मिक स्वरूप के विवरण के लिये महावीर ने पश्चिम पर अमिट छाप छोड़ी है। जैनो का अनीश्वरवाद का सिद्धान्त मानव को स्वयं (अपने पुरुषार्थ से) अपना भाग्यविधाता बनाता है। यह मानव को अपने समय की समस्याओं के समाधान के लिये समर्थ क्षमता प्रदान करता है। ये समस्यायें प्रायः मानवकृत ही हैं जिन्हें वह जैन नीतिशास्त्र और व्यवहारशास्त्र के निर्देशों के आधार पर सुगमता से हल कर सकता है।

हम लोग वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रगति के युग में रह रहे हैं जहाँ हम अधिकाधिक भौतिक सुख-सुविधाओं एवं उपभोक्तावाद की ओर उन्मुख हो रहे हैं। आधुनिक युग की प्रवृत्तियों ने "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन" के सिद्धान्त को झूठा सिद्ध करने की ठान ली है। इस युग में महावीर के युग की तुलना में अधिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। इनमें कुछ तो भूतकालीन समस्याएँ हैं और कुछ नवीन भी हैं। ये समस्याएँ व्यक्ति के नैतिक स्तर, पारिवारिक जीवन, महिलाओं का स्तर और उनकी भूमिका आदि व्यक्ति प्रधान जीवन से प्रारम्भ होकर धर्म, जातिवाद, जनसंख्या, पर्यावरण, युद्ध और आर्थिक विषमता की समस्याओं तक जाती हैं। जैन मान्यता के अनुसार, अहिंसा की मूलभूत अवधारणा के अनुप्रयोग उक्त समस्याओं के अनेक पक्षों के समाधान के लिये अमृत का काम कर सकते हैं।

जैन व्यवहार शास्त्र मूलतः व्यक्ति के बौद्धिक स्तर और भौतिक व्यवहारों को उन्नत करने का मार्ग है। जैन विश्वास करते हैं कि उच्च

नैतिक रार का व्यक्ति समाज एव जगत के उन्नयन के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। इसीलिये साधु-सन्तो को इतना आदर और मान्यता प्राप्त है। इसलिये जैन तत्र मे सर्व प्रथम व्यक्ति के बाहरी परिष्करण और आंतरिक उन्नयन के लिये अनेक उपयोगी व्यवहारिक उपाय सुझाये है। उनका अहिंसा का मौलिक सिद्धान्त इस विषय मे पर्याप्त व्यापक अर्थ रखता है। यह सिद्धान्त अपनी आधारशिला मे मन, वचन और काय से मानव को विश्वबधुत्व के आदर्श के अनुरूप विश्वस्तरीय नैतिक व्यवहार की प्रेरणा देता है। यह शाकाहार से प्रारंभ होता है जिससे हमारे ग्रथिस्रावो की कोटि शान्तिमुखी और उदार मनोवृत्ति को जन्म देती है। यह विचारों और प्रवृत्तियों की शांतिपूर्ण प्रगतिशीलता के लिये भीतरी और बाहरी उत्तम परिवेश का निर्माण करती है। इससे मानव मे प्रेम, करुणा एव स्नेहपूर्ण व्यवहार की प्रवृत्ति जागती है। वह सघर्षहीन जीवन की ओर उन्मुख होता है। अहिंसक जीवन पद्धति का अनुयायी दूसरो को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे—इस दृष्टि से व्यवहार करता है। ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति सदैव विवेकपूर्ण, सहयोगपूर्ण एव सर्वोदयी होगी।

### १. (अ) पुरातन (कैरी ओकर) समस्यायें: जाति, कुल और धर्म

अहिंसक जीवन पद्धति मे सभी मानव जाति एक है, उसमे जाति, कुल या धर्म संबंधी समस्याये उत्पन्न ही नहीं होनी चाहिये। जैनतत्र मे जाति प्रथा को कोई स्थान नहीं है, फलतः सभी प्राणी समान और भ्रातृत्व-सूत्र-बद्ध माने जाते हैं। वस्तुतः मनुष्य के कर्म, व्यवसाय के नैतिक मूल्य और गुण ही उसके चरित्र और व्यवहार के निर्धारक है। फलतः जैनो मे जन्म-पर-आधारित जाति प्रथा नहीं है जो जातिवाद को जन्म देती है। जैन-तंत्र के अनुयायी समाज के सभी जातीय वर्गों से आते रहे है एवं उसे एकरूपता, समभावता, जाँवतता तथा सामर्थ्य देते रहे हैं। इसके शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के अहिंसक सिद्धान्तो के परिपालन ने जैनो को यह ख्याति दिलाई है कि वे ससार मे सर्वाधिक नैतिक मूल्यों के धनी हैं और उनमें अपराधवृत्ति न्यूनतम है। वास्तव में, जैनो को विश्व में जातीय, धार्मिक एवं अन्य संघर्षों की वृद्धि पर सहानुभूतिपूर्ण आश्चर्य होता है। संभवतः इन संघर्षों का कारण संबंधित वर्गों की स्वयं की उत्तमता की धारणा है जो जैनो मे नहीं पाई जाती। जैनो के अनेक संप्रदायों के सैद्धान्तिक या

बौद्धिक मतभेद, इसीलिये, कभी भी उग्र रूप नहीं ले पाये क्योंकि अनेकांतवादी जैन सभी मतव्यों में सापेक्ष सत्याश देखते हैं। यही कारण है कि यद्यपि जैनतंत्र व्यापक रूप से सप्रसारित नहीं हो सका, फिर भी इसके सिद्धान्त वर्तमान मानव जाति और उसकी भावी पीढ़ियों के लिये नैतिकतः उन्नत समाज निर्माण के लिये मार्गदर्शन देते हैं। यदि हमें संघर्षहीन विश्व बनाना है, तो स्वयं की उत्तमता की अवधारणा को सर्वसमकक्षता के रूप में परिवर्धित करना होगा।

जैन तंत्र यह विश्वास करता है कि धर्म व्यक्ति और समाज के अधिकाधिक सुखमय बनाने का माध्यम है। इसके अनुसार, हमारे व्यवहार, दृष्टिकोण, विवाद और प्रवृत्तियाँ, क्षेत्र, काल, वर्तमान स्थिति और मौलिकता की चार दृष्टियों के अनुरूप होनी चाहिये। यह अपेक्षा दृष्टि बहुत कम तंत्रों में पाई जाती है। यह मत इस तथ्य से सुनिश्चित हो जाता है कि इस अनुरूपता को बनाये रखने के लिए जैनाचार्यों ने समय-समय पर अपने मतों में संयोजन, परिवर्धन, पुनःपरिभाषण एवं सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का समाहरण किया है। इस प्रकार जैनो में कभी भी कट्टरवाद नहीं पनप पाया जो आज के युग में भयंकर रूप से, अन्य तंत्रों में, दृष्टिगोचर होता है और आज का प्रत्येक विवेकशील बुद्धिवादी उसकी निंदा करता है।

अहिसक जीवन पद्धति का यह एक अनिवार्य परिणाम है कि हम सभी मतवादों के प्रति साहिष्णु बनें। जैनो की सापेक्षवादी विचारधारा का प्रशिक्षण न केवल हमें बौद्धिक दृष्टि से सहिष्णु बनाता है, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से भी आदर्श बनाता है। यह समभावी या सर्वोदय की दृष्टि आज के युग की आवश्यकता है। इस दृष्टि को सभी लोगों में पल्लवित करना चाहिये जिससे कट्टरवाद का शमन या विलयन हो एवं ऐसे व्यावहारिक जीवन का उदय हो जो संप्रदायवाद के ऊपर उठकर सच्ची धर्म भावना को प्रेरित एवं प्रवर्धित कर सके।

### (ब) महिलायें और जैन-तंत्र के सम्वर्धन में उनका योगदान

यह सचमुच दुर्भाग्य की बात है कि पितृसत्ताक समाज ने सामान्यतः महिलाओं के प्रति सदैव अनुदारता दिखाई है, यद्यपि धार्मिक कथा कहानियों एवं इतिहास में इस प्रवृत्ति के कुछ अपवाद भी मिलते हैं। संभवतः वर्तमान

समाज में यह धारणा है कि मातृसत्ताक समाज में पुरुष जाति के प्रति भी इसी कोटि की अनुदारता बरती गई होगी। इसलिए इस प्रक्रिया को परिवर्धित करने के बदले व्युत्क्रमित करना चाहिये। पर महिलाओं की मातृत्व-संज्ञा इस मनोवृत्ति का समर्थन नहीं करती। महावीर का युग परंपरावादी समाज का युग था जहां महिलाये विक्रय तक की वस्तु मानी जाती थीं। महावीर ने इस प्रवृत्ति के विरुद्ध आवाज उठाई और पुरुषों और महिलाओं की समानता का सिद्धान्त प्रवर्तित किया। जैन इतिहास बताता है कि अकविद्या और अक्षरविद्या का संवर्धन भगवान् रिषभदेव की पुत्रियो-ब्राह्मी और सुदरी-ने ही किया था। जैनो में लक्ष्मी, सरस्वती, अंबिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी आदि को उपकारक देवियों के रूप में माना गया है। तीर्थंकरों की माताओं को उत्तरवर्ती काल में शलाकापुरुषों में समाहित किया है। महावीर की महिलाओं सबंधी उदार विचारधारा का ही यह परिणाम था कि उन्होंने अपनी चतुर्विध सघ-व्यवस्था में साध्वियों और श्राविकाओं को पृथक् स्थान दिया जिसके विषय में प्रगतिशील माने जाने वाले बुद्ध भी सकोच करते रहे। साथ ही, यह भी पाया गया है कि महिला संघ के सदस्यों की संख्या पुरुष वर्ग से सदैव दुगुनी रही है। महावीर के युग में संभवतः साध्विया अधिक होती थी। इसके तीन संभव कारण तो बताये ही जा सकते हैं— (1) बहुपत्नीत्व प्रथा के प्रति सामान्य महिलाओं में आंतरिक अरुचि (2) वैधव्य के व्यक्तिगत और सामाजिक कष्ट और (3) महिलाओं की दासी आदि के रूप में विक्रयशीलता। इसके अन्य कारण भी अनुसंधेय हैं। यह देखा गया है कि जैन साध्विया जैन संस्कृति एवं चारित्र के परिपालन एवं संरक्षण में सदैव महत्वपूर्ण योगदान करती रही हैं। जैन श्राविकायें भी, अनेक कालगत प्रभाव दोषों के बाद भी, अन्य कोटि की महिलाओं से अच्छी स्थिति में रही हैं। महावीर की इस उदारता का ही यह फल है कि उनका साध्वी संघ आज भी महत्वपूर्ण बना हुआ है। अन्य तंत्रों में यह संघ एक तो नगण्य है और फिर वह इतना महत्वपूर्ण भी नहीं है। महावीर का महिलाओं की समानता और पुरुषवत् सामर्थ्य का सिद्धान्त आज व्यावहारिक दृष्टि से भी प्रशंसनीय माना जाता है और अब तो इसे आनुपातिक राजनीतिक आरक्षण भी दिया जा रहा है। ऐसे ही अनेक सिद्धान्तों से महावीर के मतों की आधुनिक युग में उपयोगिता प्रकट होती है। अनेक लोग जैन साहित्य में वर्णित कुछ विवरणों (उदाहरणों) के

माध्यम से जैनों में महिलाओं का अरुचिकर एवं निराशापूर्ण चित्रण दिखाते हैं, पर ये विवरण तत्कालीन सामाजिक मनोवृत्ति के निरूपक हैं। इसी मनोवृत्ति को ही तो महावीर ने परिवर्तित करने का यत्न किया है।

महावीर के धर्म में संसार से निवृत्ति के लिये और सुखवर्धन के लिये जिस प्रकार संसार की दुःखमय यथार्थता का, शरीर से ममत्व हटाने के लिये उसके अतरंग अवयवों एवं सरचना का अरुचिकर वर्णन मिलता है, उसी प्रकार नारी को संसार के कारण के रूप में मानकर उनके प्रति अरुचि उत्पन्न करने के लिये उसके दुर्बलपक्षों का भी वर्णन मिलता है। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव को दुःख निवृत्ति एवं सुखवृद्धि के मार्ग के लिये प्रेरित करने का उपक्रम है। पर इसे एकपक्षीय विवरण नहीं मानना चाहिये।

वस्तुतः महावीर के धर्म में नारी के उज्ज्वल पक्ष का विवरण भी पर्याप्त प्रभावक है। उसे चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में से एक माना जाता है। वह केवल पुत्री, पत्नी, माता और गृहलक्ष्मी ही नहीं है, वह जैन संघ की महत्वपूर्ण घटक भी है। वह अध्यात्मपथ की ओर अग्रसर आर्यिका एवं साध्वी भी है। बोरदिया ने अपने ग्रंथ में प्रागैतिहासिक काल से लेकर बीसवीं सदी तक की 430 प्रमुख जैन महिलाओं का विवरण दिया है जिसमें उन्होंने जैन संस्कृति के विविधपक्षों के संवर्धन में अनेक रूपों में उनके प्रभावक योगदान की चर्चा की है। इसमें सन्मार्ग-प्रेरक के रूप में भी उनका योगदान बताया गया है (नीलाजनाओं ने तीर्थंकरों को, ब्राह्मी-सुदरी ने बाहुबलि को, राजुल ने रथनेमि को, मदोदरी ने रावण को, वेश्या कोशा ने स्थूलभद्र के सहधर्मी साधुओं को, सुभद्रा ने धन्ना को, जाकल देवी ने त्रिभुवनपाल को प्रतिबुद्ध किया)। उनके सतीत्व, महासतीत्व एवं शीलव्रती रूप के अनेक उदाहरण ज्ञात हैं। इनमें अनेक विदुषी भी रही हैं (याकिनी महत्तरा, गणिनी ज्ञानमती)। उन्होंने साहित्य निर्माण एवं प्रतिलिपिकरण कराकर उनकी रक्षा भी की है (ओवे, कतीदेवी, रणमति, रत्नमति, अतिमब्बे आदि)। उन्होंने प्रशासन और वीरता में यश कमाया है (अक्कादेवी, केतलदेवी, शांतलदेवी, सावियब्बे आदि)। अध्यात्म पथिक बनने वाली महिलाओं की संख्या तो अगणित है ही। फलतः इस उज्ज्वल पक्ष के प्रभावक वर्णन की तुलना में उनके विषय में अरुचिकर वर्णन तुच्छ ही लगता है। इसीलिये अनेक विद्वान यह मानते हैं कि नारी के विषय में जैन मान्यतायें अन्य तत्रों

की तुलना में अधिक उदार रही हैं। यही कारण है कि वे न केवल भूतकाल में ही, अपितु वर्तमान काल में भी विभिन्न क्षेत्रों में अपना कौशल प्रदर्शित कर रही हैं।

जैनों ने सामाजिक दृष्टि से वश-कुटुब की या मानव समाज की निरंतरता बनाये रखने के लिये नैतिक दृष्टि से विवाह-प्रथा का संवर्धन किया है। वे मानते हैं कि मैथुनी ऊर्जा मानव की एक सांद्रित विधायक ऊर्जा का रूप है। इसे और भी अच्छे आंतरिक विकास के समान रचनात्मक कार्यों के लिये सुरक्षित रखना चाहिये। नीचैर्मुखी मैथुनी ऊर्जा को ऊर्ध्वमुखी बनाना चाहिये। इसीलिये पश्चिम की तुलना में जैनों ने इसे नैतिकता का महत्वपूर्ण मापदंड माना है। यही कारण है कि साधु और साध्वियों को सदैव ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का सिद्धान्त स्थिर किया गया है। इस नियंत्रित मैथुन सिद्धान्त का ही यह प्रतिफल है कि जैनों की जनसंख्या में सापेक्षतः अल्पवृद्धि होती है और उनकी समाज में यौन अपराध नगण्य ही होते हैं। नियंत्रित ब्रह्मचर्य सबंधी महावीर के इस सिद्धान्त का महिला समाज की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान के रूप में विश्वस्तरीय संप्रसारण आवश्यक है। गर्भ-निरोधक उपाय यौन-संबंधों के नैतिक अधःपतन को रोकने में सफल नहीं हो पाये हैं और एड्स के समान नई घातक बीमारियों ने और जन्म ले लिया है। अच्छे नैतिक जीवन एवं समुचित सामाजिक समुत्थान के लिये आत्म संयम या ब्रह्मचर्य सर्वाधिक समर्थ उपाय है। इसके लिये दृढ़ इच्छाशक्ति, सकल्पशक्ति को विकसित करने की आवश्यकता है। इससे समग्रतः यौन-अपराधों में कमी होगी, महिला सबंधी अनाचरणों में कमी होगी और जनसंख्या भी नियंत्रित होगी। यह एड्स के समान रोगों की नियामक भी होगी। नियंत्रित यौन-संबंधों की धारणा आज के युग की मांग है। जनसंख्या नियंत्रक संस्थाएँ यदि इस धार्मिक सिद्धान्त पर गहन विचार कर इसे अपने प्रयत्नों में एक अतिरिक्त साधन के रूप में स्वीकार कर प्रसारित करें, तो यह महान लाभकारी होगा।

महिलाओं से संबंधित एक सामाजिक प्रकरण ने और राष्ट्रीय महत्त्व का रूप लिया है। यह गर्भपात से संबंधित है। धर्म की व्यक्तिगत विकास की अहिसक धारणा के दृष्टिकोण से निश्चित रूप से इसका समर्थन कोई भी न करेगा। लेकिन जब यह समस्या सामाजिक एवं राष्ट्रीय रूप लेती है,



तब उस पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार तो अपेक्षित हैं ही। कुछ आगमों में गर्भपात के उपायों के निरूपण से यह तो प्रकट होता ही है कि यह विधि प्राचीन काल में प्रचलित थी। फिर भी, यह कहना असंगत नहीं होगा कि इसे सार्वजनिक अनुमोदन नहीं था। आज जनसंख्या वृद्धि और उसके राष्ट्रीय आर्थिक प्रगति पर पड़नेवाले विपरीत प्रभावों से सारा मानव समाज चिंतित हो रहा है। धार्मिक सिद्धान्तों के विश्वस्तरीय संप्रसारण के दृष्टिकोण से उनकी व्यवहारिकता की चर्चा मनोरंजक है। टोबायास ने लिखा है कि ससार में शुद्ध या मध्यम अहिंसकों की संख्या अत्यन्त कम है। फिर भी, उनका सिद्धान्त आकर्षक तो है ही। यह व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान और विकास में सहायक तो है पर सभी राष्ट्रीय समस्याओं के लिये इसके रूप भिन्न-भिन्न एवं परिवर्धित होंगे। उसकी तो मान्यता है कि चूकि शास्त्रों में इस सबंध में न विरोध है और न समर्थन, अतः ऐसे प्रकरणों में मानव को बहुजनहित एवं भावी हित, की दृष्टि से विचार करना चाहिये। यह दृष्टि जितनी ही अहिंसक होगी, उतना ही उत्तम होगा। सुखमृत्यु, दहेज और विधवा विवाह के समान समस्याएँ भी अहिंसक और अनेकाती दृष्टिकोण चाहते हैं।

### (स) युद्ध और राजनीति

यद्यपि जैनो का अहिंसा सिद्धान्त व्यक्तिप्रधान है, फिर भी अनेक धर्मगुरुओं और राजनेताओं ने इसमें विद्यमान प्रसुप्त क्षमता की उत्कृष्ट कोटि का अनुभव किया है। वे इसे सामाजिक समानता और राष्ट्रीय स्वतंत्रता की उपलब्धि का माध्यम बना सके। महात्मा गांधी, मार्टिन लूथर किंग, डी-वेलेरा, नेल्सन मंडेला और अन्य ज्वलंत नक्षत्र हैं जिन्होंने अहिंसा और उसकी अपार क्षमता को अभिव्यक्त करने में इस सदी में ही योगदान किया है। मध्यकाल में भी अनेक जैन साधु-संतों ने अपनी अहिंसक जीवन पद्धति एवं चर्या के आधार पर ही अनेक राजाश्रय पाये और जैन संस्कृति के अखिल भारतीय रूप को संवर्धित किया। आज विश्व के अनेक भागों में "सेना रहित राज्य" की अवधारणा इसी अहिंसा के सिद्धान्त का राजनीतिक विस्तार है। फलतः अब अहिंसा व्यक्ति प्रधान मात्र न रहकर समाज एवं राष्ट्र की उन्नति का अमोघ अस्त्र बन रही है। संयुक्त राष्ट्र सघ (195 देश), पक्षातीतता का आंदोलन, जी -77, सार्क, तथा अन्य संस्थाएँ

विश्वस्तर पर इसके प्रायोगिक स्वरूप हैं। अहिंसा की व्यावहारिक घारणा ने नैतिक पुनर्जागरण, निःशस्त्रीकरण तथा न्यूक्लीय एवं रासायनिक युद्धकला के प्रयोगो की उपेक्षणीयता के प्रति विश्वस्तर पर विश्वास जगाया है। विश्वशांति एवं संघर्ष-समाधान अब एक शैक्षिक शोध विषय बन गया है। इसके लिये अनेक संस्थाये विश्व के अनेक भागो में स्थापित हुई हैं। भारत मे भी जैन विश्वभारती एव अणु-विभा जैसी सस्थायें गठित हुई हैं जिन्होंने अनेक संघर्ष -समाधान के वैज्ञानिक एव नैतिक पहलुओं पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी आयोजित किये है।

विश्व की राजनीतिक शक्तियों ने अहिंसा के प्रायोगिक प्रतीक-पद्यशील के प्राचीन सिद्धान्तों को मान्यता दी है और राजनीति में नैतिकता तथा पारस्परिक विचार-विनिमय के अनेकान्तवादी सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने के अनेक उपक्रम किये है। राजनीतिज्ञो ने अब विवेक और विचार-विनिमय (संगोष्ठी, सम्मेलनो) के माध्यम से अपने अनेक राजनीतिक प्रकरण निपटाने की प्रक्रिया अपनाई है। ये प्रक्रम भी अहिंसा और दृष्टिकोण-समन्वय के आधुनिक रूप है। वस्तुतः युद्ध और उससे होनेवाली विनाशलीला को टालने के लिये यह प्रक्रिया सर्वोपयोगी सिद्ध हुई है। इस दिशा मे भरत और बाहुबली का ऐतिहासिक दृष्टात अत्यन्त मार्गदर्शक है जो विश्वशांति के सवर्धन मे परम सहायक है। मेरुप्रभ नामक हाथी का उदाहरण भी यह सकेत देता है कि पशुओ मे भी अहिसक वृत्ति जाग सकती है। अहिसक राजनीति स्थायी शांति और प्रगति के नवयुग का सूत्रपात करेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनो के अहिंसा और अनेकातवाद के सिद्धान्तो ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे राजनीति एव युद्धोन्माद को नियत्रित करने मे वर्तमान युग मे महत्वपूर्ण योगदान किया है और इन सिद्धान्तों की व्यापकता बढाई है। शांति की दिशा मे इनका स्वरूप दार्शनिक एव आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ सार्वकालिक और सार्वभौम होता जा रहा है।

#### (द) सामाजिक विषमता और जैन समाजवाद

नैतिक, और धार्मिक दृष्टि से सभी मनुष्य समान हैं और समान क्षमता रखते है। इसलिये सगुक्त राष्ट्रसंघ के मानव अधिकार घोषणापत्र के अनुसार उन्हें भोजन, वस्त्र, आवास एव आजीविका आदि अन्य कारको के लिये समान अवसर होने चाहिये। लेकिन हमे वर्तमान स्थिति इस आदर्श

से पर्याप्त भिन्न मिल रही है। उपरोक्त दृष्टियों से अधिसंख्य मनुष्यों की स्थिति संतोषपूर्ण नहीं है। हम देखते हैं कि प्राकृतिक और अर्जित संपदा कुछ ही हाथों में केन्द्रित है और अधिसंख्य व्यक्ति दुख और अभाव से ग्रस्त हैं। इसका कारण क्या है? मनुष्य की सामान्य प्रकृति महत्वाकांक्षी और अस्मितावादी होती है जिसे वह अपने बुद्धिबल, चातुर्य एवं ससाधनो से सतुष्ट करता है। तथापि, इन्हें पूर्ण करने में बहुत कम लोग ही सफल होते हैं जो दूसरों का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से दमन और अधिग्रहण करते हैं। इस प्रकार समाज में दो वर्ग बन जाते हैं जिनमें भारी असमानताएँ होती हैं। धर्मज्ञ लोग इस तथ्य की कर्मवाद के पर्याप्त मनोवैज्ञानिकतः संतोषकारी सिद्धान्त से व्याख्या करते हैं। यही अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओं एवं विषमताओं का कारण है। लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से यह स्थिति पूर्णतः सही नहीं है, सामाजिक दृष्टि से यह न्याय संगत भी नहीं है।

इस सामाजिक विषमता को दूर करने की दिशा में भी जैनतंत्र ने महत्वपूर्ण मार्गदर्शन दिया है। उसने सपत्ति और ससाधनो के आवश्यकतानुसार समान वितरण, चतुर्विध दाव की अनिवार्य प्रवृत्ति और अपनी लोभवृत्ति तथा आवश्यकताओं को नियंत्रित एवं सीमित करने के सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इसे जैन समाजवाद कहा जाता है। इसका उद्देश्य मनुष्यों को न केवल आध्यात्मिक स्तर पर ही समानता प्रदान करना है, अपितु भौतिक स्तर पर भी उनमें समानता लाना है। यह सिद्धान्त भी अहिंसा के मानवीकृत स्वरूप की अभिव्यक्ति है। यह जैन-तंत्र के पाच अणुव्रतो या महाव्रतो में से पाचवा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसे “अपरिग्रहवाद” (ममकार-त्याग) कहा जाता है। यह मानव की एक अतरंग वृत्ति है जो सपत्ति और साधनो के प्रति विरागता उत्पन्न करती है। वस्तुतः जैन तंत्र का बल नैतिकता की ओर अधिक उन्मुख है, भौतिक या आर्थिक तंत्रों की ओर वह अधिक उन्मुख नहीं है। फलतः मनुष्य की दो मूल वृत्तियों—अहंकार और ममकार, यहा मेरा है आदि—को नियंत्रित एवं विदलित करने के लिये जैन तंत्र अनेक उपाय सुझाता है जिससे समाजवादी सर्वोदयी समाज रचना का लक्ष्य प्राप्त हो सके। इसीलिये गांधी जी का सपत्ति के ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त जैन समाजवाद का ही एक रूप है। वर्तमान युग में विकसित

समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद और सामाजिक पूजीवाद जैनतंत्र के अपरिग्रहवाद के नये-नये रूप हैं जो क्षेत्र और काल के प्रभावों से विकसित हुए हैं। जैनों के इस अपरिग्रहवाद में वर्तमान की विषम आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान के बीज निहित हैं।

इस सिद्धान्त का मूल मंत्र यह है कि व्यवसायो में सत्य और ईमानदारी का मन, वचन और काय से परिपालन किया जाय। इस आधार पर कर वचन, कर-घोरी, और स्मगलिंग धर्म और नीति-दोनों के विरुद्ध है। आजकल अनुचित कार्यों के लिये मनोवैज्ञानिकतः दिये गये नरक संबंधी उपदेशों के प्रति जनसामान्य की उपेक्षावृत्ति तथा वर्तमान दड प्रक्रिया की कमजोरी के कारण ये प्रवृत्तियाँ निरंतर बढ़ रही हैं और विषमता की खाई भी, फलतः वर्धमान है। इस दिशा में धर्म के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को जन-मन में प्रवीजित करना एक अच्छा उपाय है। जैनतंत्र आजीविका और व्यवसाय सभी क्षेत्रों में नैतिक नियमों, अपरिग्रहवाद की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति का पक्षधर है। यह वर्तमान के दलाली और कमीशन के माध्यम से परोक्ष और विपुल अर्जन की अनैतिक मानता है। यह प्रवृत्ति भौतिकतः सम्पन्न अवश्य बनाती है पर यह नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की दिशा को हीयमान करती है। नैतिक मूल्यों का यह वर्धमान अवनमन वर्तमान युग की एक क्रांतिक समस्या बन गई है।

हमें लालबहादुर शास्त्री के द्वारा चलाये गये "सप्ताह में एक बार का भोजन त्यागो" कार्यक्रम का स्मरण आता है जिसके माध्यम से उन्होंने असख्य दरिद्रों को भोजन कराने में सहायता की कल्पना की थी। विनोबा भावे भी एक ऐसे ही अन्य महापुरुष थे जिन्होंने भूदान-यज्ञ के माध्यम से भूमिहीनों को भूमि उपलब्ध कराने का आंदोलन प्रारम्भ किया था। आजकल अकाल-वृष्टि, अधिवृष्टि, भूकंप एवं अन्य प्राकृतिक या मानवकृत दुर्घटनाओं के समय भोजन, वस्त्र, औषधि आदि का विश्व के विभिन्न भागों में आपूर्ण करना भी अहिंसा और करुणा के अर्थशास्त्र का एक रूप है जो इन सिद्धान्तों के आशिक विश्वीकरण की प्रवृत्ति को निरूपित करता है। इसीलिये टोबायास कहता है कि जैनतंत्र यह सिद्ध करने में सफल हुआ है कि व्यवसाय के अर्थशास्त्र की अहिंसक और अपरिग्रहवादी पृष्ठभूमि भी एक विकसित एवं नैतिकतः सुखमय समाज की रचना कर सकती है।

### (य) पर्यावरण संरक्षण

जैनों के अहिंसा सिद्धान्त के तीन प्रमुख अभिधेय हैं—(1) सभी प्राकृतिक पदार्थों में सजीवता या सर्वजीववाद की धारणा (2) सभी जीवों में समानता की अनुभूति एवं करुणाभाव का अनुप्रयोग और (3) सभी जीवों में पारस्परिक सहयोग, उपकार्य-उपकारक भाव या अन्योन्य निर्भरता का निरीक्षण। इस तरह यह सिद्धान्त मनुष्यों के अतिरिक्त पशु एवं प्राणिजगत को भी समाहित करता है। यह समग्र जीवित तंत्र का प्रतीक है और प्रत्येक जीविततंत्र के लिये समता एवं आदरभाव रखने का आदेश देता है और तदनुरूप प्रवृत्ति के लिये प्रेरित करता है। आचारांग के समान जैनों की प्राचीनतम पवित्र पुस्तक में बताया गया है कि उच्चतर जीवों की तो बात ही क्या, वनस्पतियों को भी किसी प्रकार की हानि पहुंचाना मोह, कर्मबंध, मृत्यु एवं नरक का द्वार है। वास्तव में, यदि कोई मनुष्य अपनी ही सजीव जाति के निम्न स्तर के जीवन को हानि पहुंचाता है, तो वह अहिंसक या धार्मिक कैसे हो सकता है?

इन महत्वपूर्ण उपदेशों ने हमारे समाज एवं परिवेशों के क्षेत्रों को भी प्रभावित किया है। सामाजिकतः ये उपदेश हमें शाकाहारी बनाते हैं और पर्यावरण की दृष्टि से ये हमें पर्यावरण के सतुलन को बनाये रखने के लिये प्रकृतिमाता को सौंदर्यमयी बने रहने में सहायक होते हैं।

इस सदी के प्रारंभ में शाकाहार अनेक प्रकार के विवादों एवं भ्रातृ सूचनाओं का शिकार बना था, पर अब वैज्ञानिक मानने लगे हैं कि यह एक पोषक, प्रबलन के द्वारा संपूरित, दीर्घजीविता प्रदायक एवं आध्यात्मिकतः भद्र आहार पद्धति है। इसका विश्व में व्यापक प्रचार हो रहा है और इसके प्रसार के लिये अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संगठन काम कर रहे हैं। एक ताजी रिपोर्ट के अनुसार, मासाहारी व्यवसाय की श्रृंखलाएँ क्रमशः बढ़ती जा रही हैं। विश्व की विमान सेवाओं तक में 25-30 प्रतिशत लोग शाकाहारी भोजन की मांग करने लगे हैं। अब तो यह भी माना जाने लगा है कि शाकाहार अपनाने से विश्व में खाद्य की कमी की समस्या हल होती है। यह पद्धति स्वास्थ्यदायक है, इससे उत्तम कोटि के ग्रंथि रत्नाव होते हैं जो क्रोधादि सघर्षकारी एवं हिंसक प्रवृत्तियों को बलवान नहीं बनने देते। यद्यपि इस पद्धति के प्राचीन उद्घोषक जैन रहे हैं, पर यह सब धर्मों में

(जैनों के समान तीक्ष्णता से नहीं) मान्य है और अब विश्वजनीन होती जा रही है।

जनसंख्या वृद्धि, औद्योगीकरण से उत्पन्न हानिकारक गैस और अपशिष्ट पदार्थ, विभिन्न प्रकार के वाहनो का उपयोग, वनों का दुरुपयोग या अधि-उपयोग और अन्य कारणों से इस समय भयंकर पर्यावरण की समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं जिनमें अंतरिक्ष में ओजोन परत का विदारण भी है। स्वच्छ एवं सतुलित पर्यावरण के लिये अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं और विश्व स्तर पर इस समस्या की विकरालता के कारण और निवारण के उपाय ब्राजील-जैसे सम्मेलनों में चर्चित हो रहे हैं। दूरदर्शन और अन्य संचार माध्यमों से वनस्पतियों के दुरुपयोग को रोकने, वृक्षों/वनो की कटाई पर नियंत्रण करने तथा जल, विजली एवं अन्य प्राकृतिक ससाधनों के दुरुपयोग या उपेक्षणीय उपयोग पर नियंत्रण करने के संदेश निरंतर प्रसारित किये जा रहे हैं। पर्यावरण की शुद्धता बनाने रखने के लिये जनमानस को जागरूक बनाने के लिये पर्यावरण दिवस, वृक्षारोपण सप्ताह आदि का आयोजन किया जा रहा है। अब तो "पर्यावरण सेना" का भी गठन होने लगा है।

बहुतेरे लोग यह कह सकते हैं कि पर्यावरण संरक्षण के समान समस्याओं का धर्म से क्या सम्बन्ध है ? लेकिन जैन-तत्र के सर्वजीववाद एवं अहिंसा के सिद्धान्त और उनके अनेक शास्त्रीय विवरण इस दिशा में हमें पर्याप्त मार्गनिर्देश देते हैं। अहिंसा की मानसिक मनोवृत्ति वृक्षों या वनों को अनावश्यक रूप से नष्ट करने या एकेन्द्रिय जीवों को हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति पर नियंत्रण करती है और वन एवं वन्य प्राणियों को सुरक्षा देती है। जैनो की आवश्यकताओं के अल्पीकरण एवं अनर्थदण्ड वृत्ति की मान्यताएँ यह संकेत देती हैं कि हमें पृथ्वी मा या प्रकृति से उतना ही लेना चाहिये जितना वह पुनरुत्पादित कर सके या हम उन साधनों के पुनरुत्पादन में सहयोग कर सकें। इससे वर्षा और वनों के बीच सतुलन बना रहेगा। "वन महोत्सव" इसी प्रक्रिया का प्रतीक था। जैन शास्त्र बताते हैं कि हमें अपनी न्यूनतम आवश्यकतानुसार ही प्राकृतिक ससाधनों का उपयोग करना चाहिये। जैनाचार्यों को महाप्रभु ईसा से सदियों पूर्व इस बात का अनुभव हुआ था कि हमारा पर्यावरण तत्र अन्योन्य-निर्भर है जिसमें जल, वायु,

विविध कोटि के जीव और मनुष्य सभी आते हैं। इस अन्योन्य-सहायक वृत्ति का ही यह परिणाम है कि जैनों ने पशुओं और पौधों के प्रति करुणाभाव एवं आदरभाव अपनाने की वृत्ति को अनिवार्य बनाया। जैनों को पर्यावरण संरक्षण संबंधी महत्वपूर्ण बिन्दुओं को "प्रकृति संरक्षण के लिये जैन घोषणा पत्र" में प्रस्तुत किया गया है जो 1990 में अन्तर्राष्ट्रीय विश्वजनीन प्रकृति-सुरक्षा फंड, लंदन के अध्यक्ष प्रिंस फिलिप को भेंट किया गया था।

इसके अतिरिक्त, यह सभी मानते हैं कि पर्यावरण प्रदूषण मानव की भौतिकवादी लोभवृत्ति का तथा धर्माचार्यों के उपदेशों की उपेक्षा का परिणाम है। यदि व्यक्ति और राष्ट्र जैन तंत्र की अहिंसक आधार संहिता का पालन करे, प्रकृति की सेवाओं का दुरुपयोग न करें, अपनी भौतिकवादी उपभोक्ता संस्कृति के प्रश्रय की तुलना में आवश्यकताओं को कम करें, तो पर्यावरण की समस्या आज के समान क्रांतिक न बन पाये। यह मनुवृत्ति और प्रवृत्ति एक विशेष प्रकार का प्राथमिक एवं प्रारंभिक प्रशिक्षण चाहती है जो उपभोक्ता संस्कृति के प्रति अवाछनीय अनुराग को दूर करने के सकल्प में सहायक हो सके। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे धर्माचार्य भौतिकवादी वैज्ञानिकों की तुलना में अच्छे और प्रभावी उपदेशक सिद्ध नहीं हो सके हैं जो मनुष्य को मनोवैज्ञानिकतः अहिंसक वृत्ति अपनाने के लिये प्रबल प्रेरणा दे सकें। फिर भी, ऐसा तो प्रतीत होता ही है कि पर्यावरण समस्याओं को सुलझाने के लिये मनुष्य की अंतिम शरण ये अहिसामय धार्मिक सिद्धान्त ही होंगे।

हम यह देखते हैं कि मानव ने धर्माचार्यों के पर्यावरण संरक्षण के लिये उपयोगी प्रायः सभी उपदेशों की उपेक्षा की है। आज औद्योगीकरण एवं वैज्ञानिक प्रगति को इसका दोषी माना जाता है पर इसका कारण भी मानव द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत के समाजहित के अनुकूल न पालन कर जनसंख्या की अपारवृद्धि है। इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तो प्रत्यक्ष या परोक्ष उद्योग पनपे हैं। अतः पर्यावरण की सुरक्षा का प्रथम दायित्व तो मनुष्यों का ही है। यदि वे धार्मिकतः उपदिष्ट और वैज्ञानिकतः प्रस्तुत जनसंख्या निरोधक साधन अपनायें, तो इस समस्या में पर्याप्त कमी आ सकती है। जैनो के अनेक व्रत और युक्तिया भी पर्यावरण संरक्षण को प्रेरित करती हैं। यदि हम अपनी आवश्यकताओं (परिग्रह, भोग, उपभोग

आदि) का परिसीमन करने की मनोवृत्ति विकसित करें, तो उद्योगों की बहुलता एवं तज्जन्य प्रदूषण में भी कमी होगी। साथ ही, जैनो का अनर्थदंड व्रत (अनुपयोगी या उपेक्षणीय जल, थल, नभ के ससाधनों का उपयोग) आज के संचार माध्यमों द्वारा जल, बिजली एवं थल-संक्षारण के मितव्ययितापूर्ण सदुपयोग का ईसापूर्व-कालीन रूप ही है। शाकाहार की प्रवृत्ति भी पर्यावरण संरक्षण में सहायक है क्योंकि इसमें मासाहार की तुलना में अल्पमात्रा में प्रकृति का सदोहन होता है। इसी प्रकार, यदि हम अपने कार्यात्मक व्युत्सर्गों को ग्रामीण पर्यावरण में गांधी पद्धति के आधार पर विमोचित करें, तो भी प्रदूषण में कमी आ सकती है। ध्वनि प्रदूषण भी भाषा समिति के सत् प्रयोग से कम किया जा सकता है। दिग्व्रत और देशव्रत के अन्तर्गत व्यावसायिक या अन्य परिभ्रमण को सीमितकर वाहनजन्य प्रदूषण में किंचित् कमी तो लाई ही जा सकती है। वस्तुतः ये परिसीमन ग्रामीण-संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में और हिंसा के अल्पीकरण की दृष्टि से उपदेशित किये गये थे। आज की शहरी संस्कृति के युग में ये सीमाये उपहासमात्र लगती हैं। परन्तु जैसे अहिंसा का स्वरूप व्यक्तिगत से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है, वैसे ही इन व्रतों को व्यापक रूप देकर यथाशक्ति परिसीमन करने से लाभ ही होगा। वैसे ऐसा लगता है कि संचार सुविधाओं के जागतिक विस्तार से इन व्रतों के परिपालन को प्रेरणा ही मिली है। इस प्रकार जैनो के अनेक व्रतों का व्यापकीकरण पर्यावरण संरक्षण में अत्यन्त प्रभावी रूप ले सकता है।

#### 14. परीक्षा की घड़ी : सर्वोदयी जैन तंत्र

आज का व्यक्ति और समाज जैन-तंत्र में प्रतिपादित व्रतों के परिपालन की दृष्टि से एक तिराहे पर खड़ा है। वर्तमान का वातावरण लाभ-हानि की दृष्टि से अनेक विरोधी कारकों के प्रति अनुराग और विकर्षण से भरा हुआ है। आज मानव का विवेक कठिन परीक्षा के दौर से गुजर रहा है। तथापि, यह ध्यान में रखना चाहिये कि धर्म-तंत्र मनुष्य को ऐसा लक्ष्य निर्देशित करता है जहां उसे अत्यन्त सावधानी एवं सामर्थ्य से बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये। यह आशा की जाती है कि जैनतंत्र की शिक्षाएँ अच्छे और नैतिक सर्वोदयी समाज के निर्माण की इस परीक्षा की घड़ी में अतिजीवी सिद्ध होंगी। इसीलिये जैन सदैव शांतिपाठ और अन्य श्रावनाओं को अपने



दैनंदिन जीवन का अंग बनाये हुये हैं। मुख्तार जी की "मेरी भावना" के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निम्न उद्देश्यों के अनुरूप प्रवृत्ति करनी चाहिये

**सुखी रहें सब जीव जगत के, कोई कभी न दुख पावे।**

**वैर-भाव, अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मंगल गावे।।**

जैन प्रार्थनाओं की ऐसे स्वरो की लहरे निश्चित रूप से एक शांतिमय एवं गतिशील विश्व की सरचना में सहायक होगी। इस दृष्टि से जैन तंत्र के सर्वोदयी विचारों एवं प्रवृत्तियों का भविष्य अत्यन्त प्रकाशवान लगता है। पाचवीं सदी के आचार्य समन्तभद्र ने इसीलिये जैनतंत्र को 'सर्वोदयीतंत्र', अपने 'युक्तयनुशासन' में बताया था। वह रूसो के 'नागरिक धर्म' की बीसवीं सदी की अवधारणा का ईसापूर्व कालीन रूप है।



## परिशिष्ट-1

### संदर्भ समग्री

1. एलवुड, जूनियर रोबर्ट एस. मैनी पीपुल, मैनी फेथ्स, प्रेटिसहाल, एंगलवुड क्लिफ्स, नीउ जर्सी, यू.एस.ए., 1986
2. जैन, ज्योतिप्रसाद : रिजीजियन ऐड कल्चर आफ दी जैनाज, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1983 पे0 3
3. पंडित, आशाधर . सागरधर्माभूत, वही 1984
4. वर्णी, जिनेन्द्र. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष-4, वही, 1973 पे0 51
5. आचार्य, कुदकुद . बारस अणुवेक्खा, कुदकुद भारती, दिल्ली, 1990 पे0 77
6. आचार्य, बट्टकेर; मूलाचार-1, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1984 पे0 5
7. निर्देश-2 देखिये, पे0 15-31
8. ग्रेनोफ, फायलिस, मेकमास्टर विश्वविद्यालय, कनाडा मे प्रस्तुत शोध निबन्ध, 19 88
9. श्रीवास्तव, महेश प्रसाद, जैनधर्म और दर्शन, शब्दपीठ, इलाहाबाद, 1990 पे0 75.78.
10. मालवणिया, दलसुख, आगमयुग का जैनदर्शन, सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा, 1966 पे0 11
11. आचार्य, नेमचन्द्र, गोम्मटसार जीवकांड, रायचन्द्र. ग्रन्थमाला, अगास, 1972
12. दीक्षित, के0के0. जैन आन्टोलोजी, एल0 डी0 इस्टीड्यूट, अहमदाबाद, 1971 पे0 11
13. द्विवेदी, व्ही0पी0; केलाशचन्द्र शास्त्री अभि. ग्रन्थ, रीवा, 1976 पे0 3.47

14. जैन, एन०एल०, जे०एम०एल० शास्त्री साधुवाद ग्रन्थ, रीवा, 1989 पे० 324
15. निर्वाण काड, बृहत् महावीर कीर्तन, महावीर जी, 1971
16. एटवुड, ए०आर०, रिलीजियन, रिचुअल्स ऐंड रिलीज, ए०बी०सी० न्यूयार्क, 1980
17. जैनी, पी०एस., जैन पाथ आब प्योरीफिकेशन, केलि. यूनि., वर्कले, 1979 पे० 188
18. गाधी, एस० एल० : अणुविभा, जयपुर 1.1.92
19. मुख्तार, जे०के० . मेरी भावना, अहिंसा स्थली, दिल्ली 1988
20. स्वामी, सुधर्मा, आयारो, टुडे ऐंड टुमोरो, दिल्ली, 1981 पे० 20
21. आचार्य, उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, दि०जैन सघ, मथुरा 1950 पे० 15
22. स्वामी सुधर्मा, आचाराग-1, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1980 पेज 123.34
23. उत्तराध्ययन, तेरापथी महासभा, कलकत्ता, 1967 पे० 207
24. आचार्य कुदकुद, (1) समयसार (2) नियमसार, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ 1930 पे० 4 और 75
25. मर्डिया, के०व्ही०, साइटिफिक फाउंडेशन आव जैनीज्म, एम०एल०बी०डी०, दिल्ली, 1990 पे० 85, 10, 108
26. न्यायाचार्य, महेन्द्र कुमार, जैन दर्शन, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, 1966 पे० 356
27. जैन, एन०एल०, साइटिफिक कंटेन्स इन प्राकृत केनन्स, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1996
28. कोठारी, डी० एस० : कै० च० शास्त्री अभि. ग्रन्थ रीवा, 1976 पे० 3.68
29. जवेरी जे. एस. और मुनि, महेन्द्र; माइक्रोकारमोलाजी, जे०व्ही०बी०, लाडनू, 1991 पे० 42-52
30. आचार्य, हेमचन्द्र, प्रमाण मीमांसा, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1986 पे० 58
31. वर्णी, जिनेन्द्र, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष 3. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1974 पे० 192

32. जैन, एन० एल०. जैन जर्नल, अप्रैल, 1989
33. युवाचार्य, महाप्रज्ञ; कर्मवाद, आदर्श साहित्य सघ, चुरू, 1985 पे० 159
34. वही, पे.38
35. सदर्म 29 पे० 183
36. प्रियदर्शन; स्टोरी, स्टोरी, विश्व दर्शन ट्रस्ट, महसाणा, 1987 पे० 1
37. टोबायास, माइकेल, लाइफ फोर्स, एशियन ह्युमेनिटीज प्रेस, बर्कले, कै० 1991
38. आचार्य कुदकुद, भावप्राभृत, दि०जैन सस्थान, महावीर जी, 1967 पे० 431-34
39. कोठारी, डीएस० : साइस एंड रिलीजियन, राजकृष्ण ट्रस्ट, दिल्ली 1977,
40. जैन, एस के. और जैन, सी० के, व्यक्तिगत पत्राचार
41. मेहता, जे०यू०, दी पाथ आफ अर्हत्, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1992 पे.-114
42. चटर्जी, ए०के० . कम्प्रेहेंसिव हिस्ट्री आफ जैनीज्म, भाग 1-2, के. एल०एम. कलकत्ता 1974/1984
43. जैन, गोकुल प्रसाद, नवनीत, ऋषि प्रकाशन, झांसी, 1996 पे० 2 8
44. आचार्य, रजनीश, महावीर, मेरी दृष्टि मे, रजनीश प्रकाशन, पुणे, 1989
45. बोरदिया, हीराबाई, जैनधर्म की प्रमुख साध्विया और महिलाये, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1991
46. कासलीवाल कस्तूरचन्द्र; खडेलवाल जैन जाति का इतिहास, इतिहास प्रकाशन सस्थान, जयपुर 1992
47. मदान, टी एम, टाइम्स आफ इंडिया, अक्तूबर 16, 1996
48. जैन, गोकुल प्रसाद, विदेशो मे जैन धर्म, भा० दि० जैन महासभा दिल्ली, 1997

## परिशिष्टर 2

### सारणी-2: एलबुड के विन्दुओं के आधार पर जैनतंत्र के मौलिक सिद्धांतों का विवरण

1. लोक के संबंध में धारणा विश्व एक है। इसके ऊर्ध्व, मध्य, और अध. के रूप में तीन भाग हैं। मानव प्राणी मध्य लोक में रहते हैं। इस विश्व में चार प्रकार के प्राणी नारक, देव, पशु और मनुष्य रहते हैं। इसका विशिष्ट आकार है। यह अनादि और अनंत है। इसे किसी दैवी शक्ति ने नहीं बनाया। इसमें ध्रुवता के बीच परिवर्तन सदैव होते रहते हैं।
2. ईश्वर या चरम तत्त्व ईश्वर चरम तत्त्व नहीं है। विश्व में छह चरम तत्त्व-द्रव्य हैं-जीव, अजीव, गति एवं स्थिति माध्यम, आकाश, काल
3. विश्व का प्रादुर्भाव प्राकृतिक, अनादि-अनंत
4. विश्व की नियति विश्व में सदैव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालचक्र चलते रहते हैं।
5. मनुष्यों का प्रादुर्भाव प्रथम प्रादुर्भाव अनादि है। कर्मों के कारण ये अगणित पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं।
6. मनुष्यों की नियति शुभ और अशुभ कर्मों के कारण अगणित जन्म और मृत्यु के चक्र। ये चक्र व्रत, तप एवं आत्मानुभूति के कारण होने वाले कर्म क्षय से नष्ट होते हैं और परमसुख प्राप्त होता है।

7. मनुष्य और चरमसत्य के बीच सम्बन्ध  
पाच परमेष्ठियो एवं तीर्थंकरों के उपदेशों और उनके साहित्य के माध्यम से मनुष्य अपने अभ्यास द्वारा चरम सत्य का अनुभव करता है।
8. प्रायोगिक : मानव-व्यवहार एवं प्रवृत्तियाँ और उनका लक्ष्य  
पाच अणुव्रत-या महाव्रतों का पालन, अभ्यंतर और बाह्य तपो का अभ्यास, शुभतर जीवन एवं जन्म के लिये रत्नत्रय मार्ग का परिपालन अहिंसक जीवन पद्धति, सर्वोदयी लक्ष्य।
9. सामाजिक : प्रमुख सामाजिक संस्थाएँ  
संस्थाएँ, मंदिर, स्थानक, स्थिर चतुर्विध सघ-व्यवस्था, परस्पराश्रित सघ (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका,) जनहितकारी अनेक संस्थाएँ।

